नाट्यवार्ता

नाट्यशास्त्र विशेषांक

SP

THE UDBODHAN TRUST

P-238 HINDUSTHAN PARK,

CALCUTTA-29

नाट्यशास्त्र

नाट्यशास्त्रमिदं रम्यं मृगवक्त्रं जटाधरम् ।
अक्षसूत्रं त्रिशूलञ्च बिभ्राणंच त्रिलोचनम् ॥

"नृसिंह प्रासाद"

नाट्यवार्ता

अंक ४१-४४
फरवरी—मई १९८०
विशेषांक मूल्य : ५-०० रुपये
वार्षिक : ६-०० रुपये

प्रकाशक :
अनामिका
४, विशप लेफ्रॉय रोड
कलकत्ता-७०००२०

मुद्रक :
एसकेज
८, शोभाराम बैसाख स्ट्रीट
कलकत्ता-७०००७०

सहयोगी :
डॉ० प्रतिभा अग्रवाल
पं० छविनाथ मिश्र

उप-संपादक :
प्रेमशङ्कर त्रिपाठी

संपादक :
विमल लाठ

विशेषांक-संपादक :
डॉ० भानुशंकर मेहता
(वाराणसी)

आवरण :
भरत का रङ्गमण्डप
श्री वासुदेव स्मार्त
द्वारा रेखांकित

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्

● अनेक वर्ष पूर्व एक नाट्य संस्था के नाट्य-समारोह का शुभारम्भ 'भास' के संस्कृत नाटक 'दूत वाक्यम्' से हुआ। संस्कृत पाठशाला में पढ़नेवाले रंगमंच (नूतन और पुरातन दोनों ही) से अनभिज्ञ छात्रों ने पारसी रंगमंच के चित्रित परदों की पृष्ठभूमि में 'संस्कृत कथोपकथन' प्रस्तुत किया। तब मन बहुत दुखी हुआ कि क्या यही हमारा संस्कृत रंगमंच है? दूसरी ओर आश्चर्य भी हुआ कि दो हजार वर्ष पूर्व 'भास' नामक व्यक्ति ने किस प्रकार इतना सुन्दर, ऐसी सरल लोकप्रिय भाषा में यह नाटक लिखा होगा।

बारम्बार संस्कृत नाटकों के रूपान्तर 'शकुन्तला, 'मिट्टी की गाड़ी', 'मुद्रा राक्षस' आदि हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में प्रस्तुत होते रहे। सुख्यात निर्देशकों और विख्यात कंपनियों ने संसकीरत की सुकीरत बढ़ाई। मगर किसी ने न पूछा कि दरअसल संस्कृत नाटक था क्या?

इधर महारानी विक्टोरिया के पुण्य-प्रताप से जंगली-अपढ़ भारतवासी को 'ड्रामा' और थियेटर प्राप्त हुए। और उस प्रोसीनियम मंच से अब तक ब्रेख्त, आइनेस्को और 'एब्सर्ड' नाटकों तक की यात्रा हमें रोम-यूनान, न्यूयार्क और मास्को, फ्रांस और इंग्लैंड घुमा लायी, भारत के विश्वविद्यालयों के आचार्य शेक्सपीयर को निकट से पहिचानने लगे। रंगगगन पर नाट्य विद्यालयों और प्रशिक्षित निदेशकों के सूर्य चमकने लगे। तब सहसा एक प्रश्न कौंधा कि हमारा नाटक में क्या स्थान है? हमारा मूल कहाँ है? और इस तलाश में लोगों ने ठीक ही लोक नाटकों—रास, रामलीला, नौटंकी, तमाशा, जात्रा, यक्षगान, भवाई आदि की ओर दृष्टिपात किया और उनसे थोड़ी-सी मिट्टी लेकर जमने की कोशिश की। बंगाल में 'जात्रा', हिन्दी प्रदेशों में नौटंकी, महाराष्ट्र में 'तमाशा', दिल्ली में 'यक्षगान' आदि ने निश्चय ही भारत के रंगमंच को नया स्वरूप, नया रंग प्रदान किया, किन्तु अभी कुछ है जो कहा नहीं गया, जाना नहीं गया।

इसी कड़ी में एक ओर भारत तथा विदेश के महान संस्कृत प्रेमी विद्वान हैं, जिन्होंने संस्कृत वाङ्मय के अनमोल ग्रन्थों का अध्ययन करके भारत के प्राचीन गौरवध्वज को ऊँचा उठाया है। और इसी अभियान में भारत का नाट्यशास्त्र और उसी शृङ्खला के अनेक ग्रंथ भी शामिल हुए हैं। विद्वानों ने उनका 'मंथन' किया, पर 'मंचन' नहीं, और मंच पर बैठे आधुनिक रंगकर्मी पश्चिमी वातायन की ओर झांकते बैठे रहे कि शायद सूर्य इधर से ही उदित होगा!

मूल या 'रूट्स' की तलाश की विकलता ने रंगकर्मी का ध्यान नाट्यशास्त्र की ओर आकर्षित किया है, पर वह उसे सहज सुलभ नहीं है। टीकाएं बनी हैं पर जैसा ठाकुर जयदेव सिंह ने कहा—'भरत नाट्यशास्त्र तो सागर है, एक विद्वान उसका अनुवाद या टीका नहीं कर सकता, इसके लिये अनेक विधाओं के विद्वानों की टोली को मिलकर काम करना होगा और यह गोवर्धन कृष्ण रूप धारण करके भारत सरकार ही कर सकती है।"

'अनामिका' इस लघु विशेषांक के माध्यम से रंगकर्मियों को भरत नाट्यशास्त्र की एक झलक दिखाना चाहती है और चाहती है कि भरत पथ पर भारतीय रंगमंच की स्थापना हो, हमारे नाटक की जड़ें भारतीय संस्कृति की भूमि में गहरी उतरें। यदि यह विशेषांक संस्कृत विद्वानों और रंगकर्मियों को एक मंच पर ला सका, शोध क्षेत्रों और सांस्कृतिक मन्त्रालयों (शासन) तथा अकादमियों का किञ्चित भी ध्यान आकर्षित कर सका, तो यह प्रयास सार्थक होगा। नाट्योत्सव १९८० के अन्तर्गत आयोजित "नाट्यशास्त्र परिसंवाद" (मार्च १९८०) के संदर्भ में यह विशेषांक विशेष प्रासंगिक होगा, ऐसी आशा है।

००

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं ससंग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्॥
सर्वशास्त्रार्थ सम्पन्नं सर्वशिल्प प्रवर्तकम्।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्॥

और (भरतमुनि ने) संकल्प किया कि मैं नाट्य नाम के पांचवें वेद को इतिहास सहित बनाता हूं। जो नाट्यवेद धर्म, अर्थ यश, उपदेश और ज्ञान देने वाला होगा और भावी पीढ़ी को प्राचीन महापुरुषों के सम्पूर्ण उदात्त चरितों को अनुकूल रूप से दिखावेगा, तथा जो सभी शास्त्रों के तत्वों से सम्पन्न होगा एवं सभी शिल्पों को समझायेगा।

ना० शा० अध्याय १ (१४-१५)

भरत के नाट्यशास्त्र से पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्री सामग्री एवं नाट्यशास्त्र का रचनाकाल

□ पं० करुणापति त्रिपाठी

● **नाट्यशास्त्र—महत्व और विषय सीमा—विश्वकोशात्मक**

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र का अध्ययन करनेवाले यह भलीभाँति जानते हैं कि नाट्य-शास्त्र की रचना के पूर्व ही सम्बद्ध शास्त्रीय विषय पर तथा सम्बद्ध अंगों के विवेचन विषयक अनेक ग्रन्थ निर्मित हो चुके थे। इतना ही नहीं रंगमंच, रंगभवन और पात्रों के विषय में अनेक मान्यताएं तथा रूढ़ियाँ स्वीकृत हो चुकी थीं। पण्डितों का ऐसा भी कथन है कि साहित्यशास्त्र का विकास नाट्यकला से ही हुआ। नाटक का बीज ऋग्वेद काल से ही ऋक्संहिता में उपलब्ध होने लगा।

वस्तुतः भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय साहित्यशास्त्रीय वाङ्मय में विश्व-कोशात्मक है। आगे चलकर संस्कृत-साहित्य के इतिहास में काव्यशास्त्र और उनके विविध उपादान-तत्वों के प्रौढ़ विवेचनात्मक जो विवरण मिलते हैं, उन सबका मूल नाट्यशास्त्र में ढूंढ़ा जा सकता है। नाट्याभिनय के अन्तर्गत वाचिक अभिनय के क्रम में काव्य-पाठ या काव्यात्मक संवाद होते थे और उनमें अलंकार, गुण आदि का वाचिकाभिनय होता था। अतः वाचिक अभिनय-विवेचन के अन्तर्गत उक्त विषय समाविष्ट है। रस, भाव, अलंकार, गुण, नायक-नायिका भेद, भाषा आदि सभी विषय अपने आदिम रूप में नाट्यशास्त्र की पंक्तियों में वर्तमान हैं। इसके अलावा भी नाट्यशास्त्र में उतना कुछ है कि उनका परिगणन यहाँ करना कठिन और अनवसर है। इसके अतिरिक्त नाट्य के इतने अंग हैं, नाट्य के इतने उपकरण हैं, रस-भाव व्यंजन का जितनी ध्वनियाँ, चेष्टाएं, मुद्राएं, नेत्र-संचालन, भ्रू-संचालन, मुख-संचालन, हस्तमुद्रा, अंग-मुद्राएं हैं, सबका पर्याप्त निरूपण भरत मुनि ने किया है।

छन्द, व्याकरण, स्वर, वर्ण, ध्वनि आदि भी यहाँ निरूपित और विवेचित हैं। संगीत के स्वरूप में उन्होंने वाद्य, नृत्य, गान, ध्रुवा, स्वर, ताल तथा लय आदि का वर्णन प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से किया है।

नाट्यशास्त्र सम्बन्धी अंगों और सामग्रियों का वर्णन वेश-भूषा, अभिनय, रंगमंच, रंगशाला और उनके विविध आकृतिरूपों का जितना विशद और विशिष्ट विवेचन भरत ने किया है, उसकी तुलना में परवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों का विषय-निरूपण कोरा बचकाना, बौना और शास्त्रीय कठोरता के बंधन में निरूपित होकर रह गया जान

पड़ता है। नाट्यशास्त्र में इस नाट्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन कोरा शास्त्रीय न होकर प्रायोगिक और वास्तविक जान पड़ता है। वैसे नाट्यशास्त्र के आरंभिक विवरणों से जान पड़ता है कि भरतमुनि केवल नाट्याचार्य ही नहीं, लौकिक क्षेत्र में प्रथम नाट्य प्रयोगाचार्य भी थे। यह तथ्य कितना ऐतिहासिक और वास्तविक है—यह कहना कठिन ही नहीं असम्भव-सा भी जान पड़ता है। क्योंकि इसके पहले की कोई कृति उपलब्ध नहीं है।

सब में प्रथम कृति की उपलब्धि का जो स्पष्ट उल्लेख मिलता है और जिसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में मान्यता दी जा सकती है, वह है पाणिनि की "अष्टाध्यायी"। व्रहाँ नटसूत्र का निर्भ्रान्त संकेत है, जब कि पाणिनि की अष्टाध्यायी का सूत्र है 'पाराशर शिलालिभ्यां भिक्षुनट सूत्रयोः', पर वह नटसूत्र भी पाणिनि के पश्चात् कब तक रहा और कब लुप्त हो गया, इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है।

इधर एक लेख में मैंने पढ़ा था (जो ठीक स्मरण नहीं है, कहाँ पढ़ा था और कहाँ क्या सिद्ध किया गया था तथा प्रमाण क्या थे) कि वाल्मीकि रामायण का मूल रूप पहले नाट्यात्मक था और लेखक ने अपनी स्थापना को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त प्रमाण दिया है कि वही कृति पद्यात्मक काव्य के रूप में रूपान्तरित हुई। इस सम्बन्ध में अभी तक पण्डितों द्वारा स्वीकृति नहीं दी गयी है।

भरत-युगीन नाट्य-परम्परा

इतना सब कुछ कहने का तात्पर्य केवल यह है कि प्राचीन भारत में और भरत मुनि के युग में नाट्य की परम्परा अत्यन्त प्रौढ़ हो चुकी थी। क्योंकि स्वयं भरत नाट्यशास्त्र में गद्य-पद्य-सूत्र-कारिका भाष्य और आनुवंश्य श्लोक आदि अनेक प्रकार के अंश उपलब्ध हैं। सूत्र-कारिका संग्रह भाष्य-आनुवंशश्य श्लोक या आर्याएं अनेक प्रकार के ग्रन्थांश-रूपों का यह संकलन-सा लगता है। अतः भरत के मूल ग्रन्थ का क्या स्वरूप था, यह अब तक निर्धारित नहीं हो सका। भरत जी एक थे अथवा अनेक थे—सूत्रकार, संग्रहकार, कारिकाकार अथवा भाष्यकार या सूत्र-भाष्य-निर्माता। 'अत्र प्रोक्तम्" "अत्र आनुवंश्यश्लोकाः" आदि के देखने में से ऐसा प्रतीत होता है कि इस सूत्र-ग्रंथ के पूर्व भी नाट्यशास्त्रीय कारिकाओं में एक या अनेक ग्रंथ विद्यमान थे। अनेक ग्रन्थों के विषय में यह भी कहा जा सकता है कि नाट्यों पर अलग-अलग ग्रन्थ थे। संग्रह ग्रंथ के सम्बन्ध में यह अनुमान किया जा सकता है कि महाभाष्य तथा पतञ्जलि के पूर्व जिस प्रकार संग्रह-ग्रंथ विद्यमान था (क्योंकि पतञ्जलि ने अनेक स्थलों पर उल्लेख करते हुए कहा कि—संग्रहे तत्वप्राधान्येन निरूपितम्) उसी प्रकार नाट्यसूत्रों के अनन्तर संग्रह ग्रंथ की रचना हुई।

यहां संग्रह से तात्पर्य नाट्यसंग्रह से है और ये संग्रहग्रंथ व्याकरण के संग्रहग्रंथ के सदृश विशाल रहे होंगे, ऐसा अनुमान मात्र है। इन सब अनिश्चितताओं के कारण भरत के

पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रीय चिन्तन और ग्रंथों के विषय में निश्चयात्मक ढंग से कुछ कहना सरल नहीं है। फिर भी नाट्यशास्त्र के जो संस्कार हमारे सामने वर्तमान काल में उपलब्ध हैं, उन्हीं के आधार पर जिस नाट्यशास्त्र को आचार्य भरत मुनि का प्रणीत अभिहित किया जाता है, उसके पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रीय संदर्भों और चिन्तन का अत्यन्त संक्षेप में यहां केवल उल्लेख किया जा रहा है।

प्राग्भरत-नाट्यशास्त्रीय वाङ्मय—'नटसूत्र'

ऊपर की पंक्तियों में पाणिनि के जिस सूत्र का उल्लेख हुआ है—पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः —उसके आधार पर सबसे प्रथम कृशाश्व और शिलालिन के नटसूत्रों के अमितत्व स्वतः सिद्ध हैं। यद्यपि इनके ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं, पर पाणिनि काल में सूत्रग्रंथ रहे होंगे। पश्चिम के विद्वान लेवी और हिलब्रान्त ने इन आचार्यों के सूत्रों को नाट्यशास्त्रीय ग्रंथ के रूप में माना है और 'वेबर', 'कीथ' आदि ने इस नटसूत्र को अभिनय और नृत्य से सम्बद्ध कहा है। सम्भव है नाट्यशास्त्रीय कारिकाएं इन सूत्र ग्रंथों की हों। पाणिनि के बाद व्याख्या में कहा गया है कि "शैलालिनोनटाः"। तदनन्तर केवल अमरकोश में ही इनका उल्लेख है।

आनुवंश आर्याएं और श्लोक

जान पड़ता है गुरु-शिष्य-परम्परा में लिखित या श्रुत रूप में निरन्तर प्रवर्तमान नाट्य परम्परा से ही है। इसी से यह अनुमान किया जा सकता है कि नटसूत्रों के आदिम रूपों में भरत से पूर्व कारिकाएं और संग्रह ग्रंथ प्रचलित रहे हों।

वहाँ बताया गया है कि त्रयी-विद्या अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के पठन-पाठन यज्ञानुष्ठान एवं यज्ञ सम्बन्धी उत्सवों, आयोजनों के केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अर्थात् द्विजमात्र अधिकारी माने जाते थे। उस प्रकार के आयोजनों का क्षेत्र और परिवेश रूढ़ि के कारण अत्यन्त संकुचित था। सार्वजनीन और सार्वभौम लोकानुरंजन उसमें नहीं हो पाता था। अतः नाट्यवेद के रूप में इस पंचम वेद की रचना की गयी, जो मानव मात्र के लिए सुलभ हो, जहां ऊँच-नीच का, जाति-पाँति का कोई भेद न हो।

इस नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि वेदत्रयी या चतुर्वेदों के द्विजमात्र पठनाधिकारिता के बन्धन से मुक्त ऐसे सार्ववर्णिक वेद को जनाकांक्षापूर्ति के हेतु उत्पन्न किया गया, जिसको सभी जाति, देश और आदिम निवासी, सभ्य-असभ्य, बर्बर सभी पढ़ सकें। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नाट्यवेद के सूत्रों और कारिकाओं का भी आचार्य और अन्तेवासियों की मौखिक परम्परा उसी प्रकार प्रवहमान थी, जिस प्रकार गुरु-शिष्य-परम्परा से वैदिक श्रुतियां पढ़ाई जाती थीं। हो सकता है कि वह श्रोत-सूत्रों की तरह से शिलालि का नटसूत्र ही रहा हो।

यह सब कोरी आनुमानिक कल्पना कर रहा हूं । नाट्यशास्त्र के वर्तमान संस्करण के वचनों की संगति बैठाने का प्रयास मात्र है, क्योंकि इतना निश्चय ही है कि अनुवंश्य श्लोक, आर्याएं, और कारिकाओं के उपलब्ध संस्करण निश्चय ही वर्तमान ग्रंथ या ग्रंथों से उद्धृत हैं । शिलालि नटसूत्र के निर्णय की अष्टाध्यायी के उक्त सन्दर्भ से इस प्रकार संगति बैठ जाती है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि भरत के उपलब्ध नाट्यशास्त्र के पूर्व नटसूत्र विद्यमान था और वैदिक चरणों की-सी पवित्रता और श्रुति परम्पराओं की सी विशिष्टता प्रदत्त थी । "इसीके अन्तर्गत नाट्यशास्त्र या नटसूत्रों का अध्ययन होता था । 'शैलालक' ऋग्वेद का चरण था । आपस्तम्ब और श्रोत सूत्रों में शैलालक ब्राह्मण का उल्लेख है" । उक्त पाणिनि के सूत्र पर काशिकाकार ने अपनी विवृत्ति में लिखा है—शिलालिन और कृशाश्व द्वारा चरणों का जो विकास हुआ, उसे आम्नाय की पवित्रता प्राप्त थी (चरणोद धर्माम्नाषयोः तत्सहिचर्यात्, नट शब्दादपि धर्मांम्नाय योरेव भवति) ।

पाणिनि का एवं उपर्युक्त अन्य उल्लेख और काशिका विवृत्ति के उद्धरण के आधार पर निष्कर्ष निकलते हैं—(१) कृशाश्व और शिलालिन नाट्याचार्य थे, और (२) उनके नटसूत्र वैदिक चरणों के समान पवित्र और आदृत थे । यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उक्त नटसूत्र भरत के प्रस्तुत नाट्यशास्त्र नामक ग्रन्थ में सम्मिलित कर लिये गये । कृशाश्व और शिलालिन की नटसूत्र-परम्परा पाणिनि के साक्ष्य पर निश्चय ही भरत के "नाट्यशास्त्र" उपजीव्य और प्रेरक रहा होगा ।

आनुवंश्य आर्याओं और संग्रह श्लोकों के आचार्यों की कल्पना में केवल अनुमान प्रमाण ही आधार हैं और उसका साधक हेतु भरत में उक्त विद्याओं के अंशों का उल्लेख है । इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में विविध विषयों के निरूपण सन्दर्भ में अनेक ऐसे आचार्यों का उल्लेख है जिनका सम्बन्ध शास्त्रीय रचना और नाट्य प्रयोग से सम्पर्क रखता है । शब्द-लक्षण के विवेचन में लिखा है—"पूर्वाचार्यैरुक्तं शब्दानां लक्षणं तु नित्यशः" । इसी प्रकार "ध्रुवा" के प्रसंग में नारद, 'अंगहार' और 'करण' के प्रसंग में 'तण्डु' और 'नन्दी', छन्द के प्रसंग में 'गुह' तथा अन्य प्रसंगों में 'श्वाति' एवं 'वृहस्पति' आदि के नामों की चर्चा हुई है । ग्रन्थों के नामों में पुराण और कामतन्त्र का उल्लेख मिलता है । यह कामतन्त्र वात्स्यायन का कामसूत्र नहीं है—यह स्मरण रखना चाहिए, इसी तरह जैसा कि पूर्व पंक्तियों में संकेत किया जा चुका है, सूत्र-संग्रह, भाष्य-कारिका आदि शब्दों का प्रयोग संकेत करता है कि प्रस्तुत नाट्यशास्त्र के पूर्व किन्हीं प्रचलित नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ का अस्तित्व था ।

स्वयं भरत मुनि ने आरम्भ में ही नाट्योत्पत्ति और नाट्यावतार का विवरण देते हुए अपने शतपुत्रों का उल्लेख किया है, जो नाट्प्रयोक्ता तो थे ही पर उनमें से अनेक नाट्य-विद्या सम्बन्धी ग्रंथ प्रणेता भी कहे जा सकते हैं । ऐसे आचार्यों में 'कोहल' भी एक हैं—

जो अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र की टीका) के अनुसार नट और प्रयोक्ता ही नहीं, आचार्य भी थे।

नाट्यशास्त्र का रचना-काल

नाट्यशास्त्र एक आकर ग्रन्थ है—जो पंचमवेद कहा जाता था और सूत्र-ग्रन्थ के रूप में समादृत था। हो सकता है कि नाट्यशास्त्र के मूल सूत्रों की रचना सूत्र-काल में हुई हो। सूत्रग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में वैदिक ग्रंथों के पश्चात् प्राचीनतम है। वैदिक श्रोत सूत्रों की रचना या पाणिनि के सूत्र-ग्रन्थ के मध्य में कहीं इन सूत्रों की रचना परिकल्पित की जा सकती है। वर्तमान ग्रन्थ का प्रणयन एक व्यक्ति द्वारा या एक काल में हुआ हो—ऐसा स्वीकार करना कठिन समझा जाता है। इस सम्बन्ध में विभिन्न तर्कों, अनुमानों और चिन्तन के आधार पर जिन विभिन्न भावों की परिकल्पना की गयी है केवल उसका निष्कर्ष यहां दिया जा रहा है।

भारतीय पद्य-साहित्य और नाट्य-साहित्य उत्कर्षशाली पुरातन काल में आचार्यों, कवियों और नाटककारों को भरत और उनके कृतित्व का परिज्ञान था। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अश्वघोष, भास और कालिदास की कवित्रयी ने नाट्यशास्त्रीय सन्दर्भों का संकेत किया या अवहेलना की है। उसके प्रकाश में निश्चित रूप से नाट्यशास्त्र की कालावधि की वय रेखा खींची जा सकती है। इस काल-निर्धारण की दो सीमाएं—एक पूर्व सीमा और पर-सीमा कही जा सकती हैं। "अश्वघोष, भास तथा कालिदास की रचनाओं को नाट्यशास्त्र ने प्रभावित किया है—अश्वघोष और भास ईस्वी सन् के प्रभात काल से ही भरत के नाट्यशास्त्र की प्रभावरश्मियों का अनुभव कर रहे थे और कालिदास ने उस प्रभाव के उज्ज्वल आलोक में अपनी नाट्य-कृतियों का सृजन (सर्जन) किया" (भरत और भारतीय नाट्यकला—सुरेन्द्र दीक्षित, पृ०-२५)।

पतञ्जलि के महानाट्य में भी 'बलिबन्धन' एवं 'कंसवध' नाटकों के उल्लेख से यह निश्चय है कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के पहले नाटकों का अस्तित्व था और सम्भवतः उसके पूर्व से ही भरत का नाट्यशास्त्र निर्मित हो गया था। क्योंकि नाट्यशास्त्र की रचना करनेवाले भरत ही लौकिक संस्कृत के क्षेत्र में प्रथम प्रयोक्ता भी थे। अधिकांश विद्वान यतः कालिदास का समय ईसा पूर्व शताब्दी न मानकर गुप्तयुग की प्रथम शती मानते हैं—अतः उनके मत से भरत के नाट्यशास्त्र का समय ईसा की दूसरी-तीसरी शती होगा। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि लगभग ईसा पूर्व तीसरी शती से लेकर ईसवीय द्वितीय शती तक 'नाट्यशास्त्र' की पूर्वकाल सीमा है।

नाट्यशास्त्र का प्रभाव लगभग तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी तक के नाट्यशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय अथवा नाट्य के रचनात्मक ग्रंथों पर निरन्तर पड़ता रहा। अतः परवर्ती

काल-सीमा-निर्धारण करने में नाट्यशास्त्र के अन्तः साक्ष्यों एवं बाह्य साक्ष्यों का सहारा अनिवार्य हो जाता है।

अन्तः साक्ष्य—भीतरी प्रमाण के लिए नाट्यशास्त्र में बिखरी हुई विभिन्न सामग्रियों का सहारा लिया जा सकता है, उनमें वैदिक आर्यकालीन देवताओं, जातियों, जनपदों, भाषाओं, व्यवहारों, आचार-विचारों तथा काव्यशास्त्रीय अलंकार, रसभावादियों का उल्लेख मिलता है। काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि शास्त्रीय ग्रन्थों पर भी भरत के नाट्यशास्त्र की प्रेरणा और प्रभाव व्यापक पैमाने पर परिलक्षित होता है। अतः परसीमा का विस्तार बहुत लम्बा है। इन तथा अन्य अन्तः साक्ष्यों के आधार पर नाट्यशास्त्र के अनुशीलन, अध्ययन और अनुसन्धान में लगे सुधीजनों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उनका अति संक्षिप्त संकेत मात्र इस लघु निबन्ध में सम्भव होगा।

नाट्यशास्त्र में वैदिक एवं पौराणिक इन्द्र, ब्रह्मा, शिव, विष्णु—इन चार देवताओं के अतिरिक्त सरस्वती, लक्ष्मी, सूर्य, वायु, अग्नि, सोम, मित्र, रुद्र, महेश्वर आदि के भी नाम मिलते हैं। महेश्वर, महाग्रामणी, वासुकि तथा नागराज और कोल आदि के अतिरिक्त कन्दर्प, अप्सराएं, यज्ञ, गुह्यक, भूतगण, पिशाच, दैत्य-राक्षस, नाट्य कुमारी, नाट्यविघ्न आदि के नाम भी कुछ-कुछ पूज्यभाव से लिए गये हैं। महाग्रामणी शब्द भी प्रयुक्त है जो किसी के मत से गणेशवाचक है और किसी के मत में गणेश्वद या गणपति वाचक है। बहुत से लोग गणेश को पदवर्ती देवता मानकर महाग्रामणी का अर्थ गणेश नहीं करते। इन विभिन्न मत-मतान्तरों के जंजाल में वैदिक और पौराणिकों के देवों का काल-निर्धारण स्वयं समस्या बन जाता है। दशावतार की कल्पना में भी अनेक प्रकार के कालपरक वाद-विवाद प्रचलित थे। पर नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट इन देवताओं, अप-देवताओं और गन्धर्वादिकों के उल्लेख से इतना तो स्पष्ट झलकता है कि पौराणिक बहुदेव कल्पना युग के पूर्व यह ग्रंथ निर्मित है।

नाट्यशास्त्र में जिन जातियों और वर्गों के लिए पृथक् शरीर, वर्ण का विधान है (जैसे किरात, बर्बर, आन्ध्र, तमिल, पुलिन्य, दाक्षिणात्य आदि के लिए असित वर्ण का उल्लेख है) इससे मी यह सूचित होता है कि नाट्यशास्त्र की रचना उस काल में हुई होगी, जब आन्ध्र और तमिल जनपदों के कुछ सुदूर भागों में पूर्ण सम्यता का विकास नहीं हुआ था। इससे भी यह सूचित होता है कि नाट्यशास्त्र की रचना ईसा से पूर्व की शतियों में हो चुकी थी।

नाट्यशास्त्र में संस्कृत और प्राकृत दो प्रकार की भाषाओं का उल्लेख आदि के जो विवेचन और विश्लेषण मिलते हैं, उनसे भरतकालीन प्राकृत भाषा के स्वरूप का संकेत मिलता है। वह रूप परवर्ती प्राकृत की तुलना में प्राचीनतम है। डा० मनमोहन घोष के मत में यह भाषा यद्यपि अश्वघोष की प्राकृत भाषा से अर्वाचीनतर है—तथापि अन्य

अनेक विद्वान इस मत से सहमत नहीं हैं। अश्वघोष के सारिपुत्त नाटक की भाषा में कुछ प्राचीनी भले है पर उसके नाट्यशिल्प पर भरत के नाट्यशास्त्र का पर्याप्त प्रभाव है। संस्कृत भाषा के सरल और प्रभावमय मुहावरे आदि प्रयोग रूप के आधार पर तथा चमत्कारकारी अलंकार शैली के अभाव के कारण—पी० रेनाड ने आरम्भिक ईसवी काल में इसका प्रणयन माना है।

रचना-शैली

पूर्व पंक्तियों में बताया गया है कि नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त सूत्र-भाष्य, गद्य-पद्य आदि विभिन्न शैलियों का विमिश्रित रूप रहा होगा। सूत्र और भाष्य और आर्याएं और अनुष्टुप पद्य आदि भी उसमें थे। एस० के० दे ने उक्त शैलियों के ग्रंथ का विवेचन करते हुए अपनी स्थापना में बताया है कि उक्त ग्रंथ अति प्राचीन सूत्र भाव्यात्मक था और सूत्र ग्रंथ के रूप में उसकी मान्यता थी। अतः उसकी शैली भी प्राचीनता की ही द्योतक है।

काव्यशास्त्र के बीज

ऊपर संकेत किया गया है कि नाट्यशास्त्र में प्राचीन काव्य-शास्त्र के बीज वर्तमान हैं। परवर्ती काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में निरूपित सामग्रियों को देखने में भी भरत के ग्रंथ की प्राचीनता स्पष्ट लक्षित होती है। नाट्यशास्त्र में जहां केवल शब्दार्थालंकार चार हैं—उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक, वहां चौदहवीं, पन्द्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी के चन्द्रालोक, कुवलयानन् आदि ग्रंथों में उनकी संख्या और वर्गीकरण में अत्यन्त विस्तार उपलब्ध होता है। यहां तक कि विष्णु धर्मोत्तर पुराण और भामह से काव्यालंकार और दण्डी के काव्यादर्श आदि में विस्तार का प्रारम्भ हो गया था। अतः भरत का अलंकार विवेचन भी ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर ईसवी प्रथम शताब्दी से परवर्ती कथमपि नहीं हो सकता। केवल इन चार ही मूल अलंकारों का नाट्य शास्त्रीय विवेचन सामग्री की प्राचीनता का पर्याप्त प्रमाण है।

छन्दः संख्या

इसी प्रकार छन्दों की संख्या और उनके नाट्यशास्त्रीय नाम भी पिंगलशास्त्र तथा छन्दः शास्त्र के परवर्ती ग्रन्थों की तुलना में प्राचीनतम हैं।

नाट्यशास्त्र में उद्धृत आचार्यों और ग्रंथों के नाम के सन्दर्भ में ऊपर थोड़ी चर्चा हुई है, उनमें सभी आचार्यों और ग्रन्थों के उल्लेख पुराकालीन हैं। ई० पू० द्वितीय शताब्दी के परवर्ती किसी नाम का वहां उल्लेख नहीं है। इससे भी सूचित होता है कि वर्तमान नाट्यशास्त्र की रचना का समय ई० पू० तृतीय या द्वितीय शताब्दी है।

शिलालेखों के लेख का साक्ष्य

प्राचीन शिलालेखों में पारिभाषिक शब्दों, जातियों और देशों के ऐसे नाम प्रयुक्त मिलते हैं, जिनका स्वरूप नाट्यशास्त्र में मिलता है, जो सूचित करता है कि यह अत्यन्त प्राचीन

युग में लिखा गया था। प्रो० सिल्वां लेवी ने इस विषय पर पर्याप्त विचार किया है और रूद्रदामन के जूनागढ़ शिलालेख में प्रयुक्त शब्दों को लेकर यह स्थापना की है कि नाट्यशास्त्र के बहुत पूर्व प्रयुक्त इन प्राचीन शब्दों का प्रयोग उक्त शिलालेख में है। गान्धर्व सौष्ठवा और नियुद्ध ऐसे ही पारिभाषिक शब्द हैं। इसी तरह 'भद्रमुख', 'सुग्रहीतनामा' आदि पद हैं। गौ और ब्राह्मण के सन्दर्भ में पूजाभाव का उल्लेख भी उभयत्र है। इसी क्रम में वशिष्ठ पुत्र पुलोमयी के शिलालेख में प्रयुक्त शब्द आदि भी आते हैं जिनमें शक, यवन आदि जातियों का विवरण प्राचीनतम ग्रन्थ नाट्यशास्त्र से मिलता है। प्रो० लेवी के अनुसार उक्त शिलालेख नाट्यशास्त्र से प्रभावित है। काने महोदय नें भी इसी पक्ष का समर्थन करते हुए नाट्यशास्त्र की प्राचीनता प्रतिपादित की है। परन्तु शिलालेखों के साक्ष्य से इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि ईसवी द्वितीय-तृतीय शती से पूर्व नाट्यशास्त्र का प्रणयन हो चुका था। और भी कुछ शिलालेख हैं, जिन सबकी चर्चा यहाँ नहीं कर रहा हूँ। उनसे भी नाट्यशास्त्र की प्राचीनता का संकेत मिलता है। पर यह विषय वर्तमान ऐतिहासिक मान्यताओं के प्रकाश में उलझा ही रह जाता है। शिलालेखों द्वारा नाट्यशास्त्र की रचना का पूर्ववर्ती और परवर्ती सीमा का विस्तार बहुत है।

अन्तःसाक्ष्य के आधार पर नाट्यशास्त्र के प्रणयन काल का निर्धारण विद्वानों में विभिन्न मान्यताओं का सूचक रहा है—जहाँ भाषा, वर्ण, अलंकार, छन्द और अतिप्राचीन जन-जातियों के उल्लेख से निश्चित रूप के प्रकाश में नाट्यशास्त्री पुरातनता लक्षित होती है, वहीं शिलालेखों का विवेचन उसके प्रणयन काल की परिवर्तिता का संकेत करता है। इन्हीं सब कारणों से जहाँ रामकृष्ण कवि अनेक दृढ़ प्रमाणों के आधार पर नाट्यशास्त्र का रचना काल ई० पू० पाँचवीं शती मानते हैं, वहीं कीथ तृतीय शताब्दी ईसवी मानते हैं। परन्तु पी० वी० काणे, एस० के० दे तथा मनमोहन घोष ने ई० पू० दूसरी से लेकर ई० पू० प्रथम शताब्दी तक माना है। अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि उसका रचनाकाल ई० पू० तीसरी शताब्दी के आस-पास कहा जा सकता है। हो सकता है कि उसके कुछ अंश ईसा की प्रथम, द्वितीय शताब्दी में जोड़ दिये गये हों। पर सीमा की दृष्टि से ईसा की तीसरी शती के पूर्व निश्चित रूप से यह ग्रन्थ प्रणीत हो चुका था।

पूर्वसीमा निर्धारित करने में भास, अश्वघोष और कालिदास के नाटक अभ्रान्त साक्ष्य हैं। इनकी रचना से पहले ही नाट्यशास्त्र निर्मित हो चुका था। इनमें भी अश्वघोष का समय प्रायः प्रथम शताब्दी निश्चित है।

भास और कालिदास भी ईसवी द्वितीय शती से बाद के नहीं हैं। चूँकि नाट्यशास्त्र अश्वघोष के नाटक को प्रभावित करता है, अतः अश्वघोष के काल के पूर्व अर्थात् प्रथम ई० शती के पूर्व उसका वर्तमान रूप उपलब्ध था।

'सूत्रधार कृतारम्भैः नाटकै बहुर्भूमिकैः' के अनुसार यद्यपि भास के नाटकों का आरम्भ भरत के नाट्यशास्त्र के विरुद्ध जाता है, तथापि निश्चय ही अनेक बातों में उनके नाटक नाट्यशास्त्र से निःसन्देह प्रभावित हैं। कालिदास ने भी कहीं-कहीं नाट्यशास्त्रीय मान्यताओं से भिन्न सिद्धान्तों को अपनाया है—तथापि पात्र-नायक-भाषा-छन्द आदि की कल्पना विषयक दृष्टि के आधार पर यह निःसन्दिग्ध सत्य है कि भरत के नाट्यशास्त्रीय नियमों से प्रभावित हैं। उन्होंने भरत स्वीकृत "नाट्य प्रयोग" एवं नाट्य की अष्ट रसाश्रयता का अपने विक्रमोवर्शीय नाटक में स्पष्ट प्रयोग किया है। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र में जब हरदत्त और गणदास के बीच कल्पित नाट्य प्रयोग की प्रतिस्पर्द्धिता और प्रतियोगिता का प्रसंग उपस्थित होता है, तब महाकवि कालिदास ने आंगिक, वाचिक आदि अभिनय-सिद्धि, रस, प्राश्निक एवं अन्य पारिभाषिक शब्दों का प्रत्यक्ष उल्लेख किया है—जिनका विधान भरत के नाट्यशास्त्र में विभिन्न आंगिक, सात्विक, वाचिक अभिनय के अन्तर्गत है। इसी प्रकार खण्डित नायिका का रघुवंश में उल्लेख है तथा सन्ध्यंग एवं अंगहारों का कुमारसम्भव में निर्देश है। पात्रों के नामों, प्रतीकों आदि की दृष्टि से भी कालिदास के शब्द प्रयोगों में आचार्य भरत का प्रचुर प्रभाव वर्तमान है। इस तरह परवर्ती सीमा की दृष्टि से नाट्यशास्त्र के वर्तमान स्वरूप को किसी की दृष्टि से ईसवी तृतीय शती के बाद का बताना असंगत है।

परवर्ती सीमा-निर्धारण विद्वानों ने याज्ञवल्क्यस्मृति, विष्णु धर्मोत्तर पुराण, अग्निपुराण आदि की भी चर्चा करते हुए अनेक बातों के आधार पर बताया है कि याज्ञवल्क्यस्मृति में उल्लिखित गीत के सप्त भेदों तथा उक्त पुराण में निरूपित अलंकारों, रसों आदि की दृष्टि से भी नाट्यशास्त्र पर्याप्त पुरातन है।

हाल की 'सप्तशती' और कुट्टनीमत में एवं 'कादम्बरी' एवं हर्षचरित में अनेक भरत की मान्यताओं का रचनाकारों ने अपने अपने ग्रन्थों में उपयोग किया है—परन्तु ये सब रचनाएं बहुत बाद की हैं, इससे बहुत पहले ही नाट्यशास्त्र विरचित हो चुका था। भामह तथा दण्डी से भी बहुत पहले भरत ने अपने ग्रन्थ का निर्माण कर लिया था—यह भी असंदिग्ध है। परवर्ती नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ दशरूपक, भावप्रकाश, काव्यानुशासन, नाटक लक्षणरत्नकोश, रसार्णवसुधाकर, नाट्यदर्पण और यहाँ तक कि संगीत रत्नाकर भी प्रत्यक्ष परोक्ष और सामग्री उपयोग की दृष्टि से नाट्यशास्त्र के ऋणी हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरणों के आधार पर वर्तमान नाट्यशास्त्र का रचनाकाल प्राचीन अभिलेखों, काव्य एवं नाटकशास्त्रीय ग्रन्थों एवं स्मृति-पुराणों, काव्यों और नाटकों के आधार पर निर्धारित करने का आधार बन सकता है। कालिदास का समय तृतीय ई० शती या चतुर्थ शती से पूर्ववर्ती कथमपि नहीं है। उनके सन्दर्भों से सूचित है कि नाटक शास्त्र के प्रसव से कविगुरु के नाट्य ग्रन्थ प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों से प्रभावित हैं।

इसका यह अर्थ निकाला जा सकता है, उसके दो-तीन शताब्दी पूर्व आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र का अस्तित्व था और वह ग्रन्थ प्रतिष्ठित एवं सम्मानित माना जाता था। आकर ग्रन्थ के रूप में वह समादृत था और नाट्यकार यथासम्भव भरत के नाट्यशास्त्रीय निर्देशों से प्रत्यक्षतः या परोक्षतः प्रेरणा प्राप्त करते थे। इसी प्रकार पुराणों की तथा स्वतन्त्र काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों की सामग्री भरत के नाट्यशास्त्र से ही ग्रहण की गयी थी।

अभिनवगुप्त के पूर्ववर्ती रससूत्र व्याख्याता (जो सम्भवतः नाट्यशास्त्र के टीकाकार थे और जिनमें उद्भट, भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और कदाचित् भट्टतौत भी थे) नाट्यशास्त्र के वर्तमान काल में उपलब्ध संस्करण के शताब्दियों परवर्ती थे। इसमें कहीं भी और कोई भी सन्देह नहीं है।

अतः निष्कर्ष रूप में असंदिग्धरूप से यह कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र के वर्तमान ग्रन्थ की रचना ईसा द्वितीय शताब्दी में हो चुकी थी। यह ग्रन्थ चाहे ई० द्वितीय शती से कितना भी पूर्ववर्ती हो परन्तु कालिदास से दो शताब्दी पूर्व अवश्य ही प्रणीत हो चुका था।

पूर्ववर्ती सीमा के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र के वर्तमान ग्रन्थ का सूत्रभाष्यात्मक स्वरूप एवं अन्य उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर नाट्यवेद के रूप में इसका सम्मान यह सूचित करता है कि यह बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। हो सकता है कि इसके सूत्र ही इसके मूल रूप रहे हों। वही मूल सूत्र आगे चलकर पाणिनि के बाद अर्थात् ई० पाँचवीं शतीपूर्व तक वर्तमान उपलब्ध ग्रंथ के रूप में प्रणीत हुआ था।

नाट्यशास्त्र का निश्चित समय निर्धारित करना प्रत्यक्ष और असंदिग्ध प्रमाणों के आधार पर सम्भव नहीं है। पर अन्तः साक्ष्यों और बहिः साक्ष्यों के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि यह ग्रन्थ ई० पू० पांचवीं शताब्दी से पूर्ववर्ती नहीं है तथा ई० द्वितीय शताब्दी से परवर्ती नहीं है। हो सकता है कि इसके मूलसूत्र ई० पू० पांचवीं शताब्दी से भी पूर्व के हों। परन्तु यह भारतीय प्रमुख ललित कलाओं का विश्वकोष निश्चय ही ई० पूर्व की शताब्दियों में ही अत्यन्त समादृत और मान्यरूप में प्रतिष्ठापित हो चुका था।

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित शोधग्रन्थ 'भरत और भारतीय नाट्यकला' के लेखक श्री सुरेन्द्रनाथ दीक्षित को धन्यवाद देते हुए—जिनके ग्रन्थ से बहुत-सी सामग्री ली गयी है—यह लेख समाप्त किया जाता है। ००

भारत के प्राचीन नाट्यशास्त्री और टीकाकार

□ आचार्य मधुसूदन शास्त्री

● विश्व के इतिहास में कलाओं का स्थान मुख्य है। इन कलाओं में इतना आकर्षण है, इतनी मधुरता है कि जिससे मूढ़ मस्तिष्क भी विकासोन्मुख हो जाता है। विनेय शिक्षणीय बालकों की मनोवृत्तियों का अनायास ही सुखमय परिवर्त्तन इसके द्वारा किया जा सकता है। यह मुख्य रूप से संगीत कला १, चित्रकला २, स्थापत्य कला ३, टंकण कला ४, स्थाप्य कला ५, धातु कला ६, वास्तु कला ७ एवं काव्य कला ८, इस तरह आठ प्रकार की हैं। इन अष्टविध कलाओं में गौरवास्पद कला काव्य कला है जैसा कि महाराज भर्तृहरि ने नीतिशतक में कहा है—"कलासीमा काव्यम्"। कलाओं की सीमा कलाओं की अवधि काव्य है।

मानव विकास में अनेक प्रेरक शक्तियां, चेतनाएं क्रियाशील रहती हैं, परन्तु परिस्थितियों के परिवर्त्तन में मानव अपनी प्रमुख भूमिकाओं का निर्वाह नहीं कर पाता है। मानव के सर्वाङ्गीण विकास को उन्मुख करनेवाली चेतनाओं को चुनौती देने वाली असंख्य जटिल समस्यायें उपस्थित होती-होती इतनी उपचित हो जाती हैं, बढ़ जाती हैं कि जिनको हल करना कठिन तो होता ही है प्रत्युत् वे मानव को विक्षिप्त कर देती हैं। उस अवसर पर सरस एवं सरल भावभंगी से कल्याण की तरफ उन्मुख करने वाला साधन गुरुओं के पास काव्य ही है। जो महात्माओं के, सन्तों के उपदेश की तरह अमृत को पिला देता है एवं बाह्य विश्रृंखलताओं से मन को हटाकर हृत्तंत्री को बजा देता है।

मानव की चेतना और कल्पना शक्ति में असाधारण योगदान कर देनेवाला परिपूर्ण स्थिर एवं सद्यः फलदायी सरस तत्व काव्य ही है। जीवन की समग्रता, सफलता तथा सर्जनात्मक प्रवृत्तियों के प्रति अभिमुख या उन्मुख करनेवाली आत्मीयता की भावनाओं से ओत-प्रोत विशाल हृदय गुरु या मित्र काव्य ही है। जो विनेय किन्तु उदण्ड वर्ग की चेतनाओं को निर्मल गंगा की तरह परिवहनशील कर देता है। क्योंकि सभी सुखको चाहता है, सौन्दर्य को निरखता है, आस्वाद में विभोर रहने की चेष्टा करता है, परम आनन्द की घूंट पीने में तत्पर रहता है। ऐसे ही युवक एवं युवतियों के स्तर को ऊंचा उठाने में, वास्तविक रहस्य की ओर ले जाने में, बोध के जागरण की दिशा को बतलाने में, इतिहास के विकास की झांकी का दर्शन कराने में सहायक गम्भीर एवं कठिन समझे जानेवाले विषयों को आस्वाद्य बनाकर लघु रूप में प्रस्तुत करने वाला प्रभावशाली साधन काव्यशास्त्र ही है, जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि काव्यशास्त्रविनोदेन कालोगच्छति

धीमताम्। जिससे कर्णमधुर, मनमोहक, कलकल नाद करती हुई रस गंगा बहती है। जिस गंगा के जल का आचमन करके, पान करके, विक्षिप्त एवं भ्रान्त युवक एवं युवतियाँ महामण्डित बनकर प्रामाणिक विश्वसनीय निर्णेता नागरिक हो जाते हैं। इन रसों की प्रतीति विभाव अनुभाव एवं संचारी भावों से होती है। रसों की प्रतीति के अलौकिक हेतु इन विभावादि के उपस्थापक अपनी-अपनी दृश्यश्रव्य पठ्य एवं चित्र्य इन चार शैलियों में विभक्त है। इनमें पहली शैली है शब्द प्रतिपाद्य अर्थ एवं शुद्ध अर्थ रूप सात्विक, आंगिक, वाचिक एवं आहार्यिक चतुर्विध अभिनय प्रधान काव्य। इसको नाट्य भी कहते हैं क्योंकि इसमें रामादि की अवस्थाओं का अनुकरण होता है। यहाँ अनु का अर्थ है पश्चात्सादृश्ययोरनु इस कोश के अनुसार सादृश्य। अतः अनुकार्य रामादि ने भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में जैसा-जैसा कार्य किया वैसे-वैसे कार्य को रंगमंच पर अभिनीत करके दिखाना होता है। अतएव यह काव्य दृश्य कहलाता है और दृश्य रूप ही होता है अत: इसका एक नाम रूप भी है। रामादि की अवस्थाओं का अनुकरण भी तभी हो सकता है जब ये अनुकर्त्ता नट लोग रामादि रूप का अपने में आरोप कर लें। अतएव इसको रूपक भी कहते हैं जैसा कि कहा है रूपकं रूपितारोपात्। इस तरह इसके नाट्य दृश्य (प्रेक्षणीय) रूप एवं रूपक के चार नाम हैं।

इनकी विविध विशेषताओं का शासन करनेवाले शास्त्र को मननशील चिरन्तन मनीषियों ने नाट्यशास्त्र कहा है। ये विशेषताएँ आज भी अपने रूप में वैसी ही हैं और भविष्य में भी वैसी ही रहेंगी। क्योंकि ये विशेषताएँ इतनी ठोस हैं कि इनका जितना विचार किया जायेगा उतनी ही नये-नये रूप में प्रस्फुटित होंगी। जैसे केले के पात-पात में पात अंकुरित होते रहते हैं। इसका हेतु है कि लौकिक भाव, भाषा आदि की अपेक्षा नाट्य की आकर्षक मनभावनी शब्दावली से ग्रन्थित भाषा ,उसकी भाव भंगिमा, उसकी उत्थापना सभी अतीव सुन्दर एवं विलक्षण होती है। वे ही भाव जो प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। वे इतने चमत्कारी एवं अद्भुत नहीं होते हैं जितने कि नाटकीय ढंग से सात्विक. आंगिक, वाचिक एवं आहार्यिक चतुर्विध अभिनय के द्वारा उपस्थित किये गये विस्मयोत्पादक होते हैं। यह वह महत्वपूर्ण अकाट्य साधन है जिससे अध्ययन पराङ्मुख बालकों की अध्ययन में प्रवृत्ति होती है और अध्येताओं की उसमें अभिरुचि बढ़ती है। इसीलिए कहा जाता है कि नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्। यह नाट्य राष्ट्र के भावी विकास में महान उपयोगी इन युवक और युवतियों की ज्ञानपिपासा को बढ़ाता है जिससे वे अध्ययन करते हैं और अध्ययन के बाद उनके चित्त पटल पर बहुविध प्रकाश की किरण सरणियां फैल जाती हैं एवं सरलता से सुख से हृदय में व्याप्त हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप मूलभूत सत्य के प्रति उनमें श्रद्धा का बीजारोपण हो जाता है, यह नाट्यशास्त्र कला के क्षेत्र में मूर्धन्य है। विश्व की किसी भाषा में ऐसा मौलिक ग्रन्थ रत्न दूसरा कोई नहीं है, जो आज विश्व में दिखलाई पड़ रहा हो। विश्व के साहित्य में जो आज नाटकों का प्रचार-प्रसार एवं प्रकाश-विकास दिखाई पड़ रहा है, वह सब इसी की देन है। सबका मूल स्रोत यही है। इसके रचयिता भरतमुनि हैं।

भरत के पूर्ववर्त्ती प्राचीन नाट्याचार्यों का, नाट्यशास्त्रियों का आभास हमें महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा भरतादि के नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों एवं अभिनव भारती आदि उनकी टीकाओं के समुद्धरणों से मालूम पड़ता है। उनके नाम हमें ज्ञात होते हैं, उनकी कृतियों का कोई भी किसी भी तरह का दिग्दर्शन नहीं मिला है।

प्राचीन नाट्यशास्त्रियों के नाम	आधार ग्रन्थ	ग्रन्थकार
विरंचि नीलकण्ठ पार्वती एवं भरत	नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती एवं दशरूपकादि सभी ग्रन्थ	भरत अभिनव गुप्त धनन्जयादि सभी ग्रन्थकार
शिलालि या शिलाली	अष्टाध्यायी और नाट्यशास्त्र	पाणिनि और भरत
कृशाश्व	"	"
धूर्तिल	नाट्यशास्त्र	"
शाण्डिल्य	"	भरत
वात्स्य	"	"
कोहल	"	"
सदाशिव	अभिनव भारती	अभिनव गुप्त
पद्मभू	"	"
द्रौहिणि	दशरूपक	धनन्जय
व्यास	"	"
आञ्जनेय	भावप्रकाशन	शारदातनय
भट्तोत	अभिनव भारती	अभिनव गुप्त
श्रीकण्ठ	नाट्यप्रदीप	सुन्दर मिश्र

व्याख्याकार	आधार ग्रन्थ	ग्रन्थकार
तुम्बरु	अभिनव भारती	अभिनव गुप्त
दत्तिल	"	"
अभिनव गुप्त	अभिनव भारती	अभिनव गुप्त
कात्यायन	संगीतरत्नाकर	शार्ङ्गदेव
मतङ्ग	"	"
राहुल	"	"
उद्भट	अभिनव भारती	अभिनव गुप्त
लौल्लट	"	"
श्रीशंकुक	"	"

व्याख्याकार	आधार ग्रन्थ	ग्रन्थकार
गर्ग या शाकली गर्भ	अभिनव भारती	अभिनव गुप्त
घण्टक	"	"
भट्टनायक	"	"
भट्टयन्त्र	"	"
भट्टतौत	"	"
कीर्तिधर	"	"
सुवन्धु	"	"
अश्म कुट्ट	साहित्य दर्पण	विश्वनाथ
वादरायण	ना० ल० र० को०	सागरनन्दी
शीतकर्णी	"	"
नखकुट्ट	"	"
नाटकवर्तिककार	"	"

धनञ्जय और धनिक भी नाट्यशास्त्र के आधुनिक व्याख्याकार हैं। इन दोनों ने स्पष्ट लिखा है कि ॥ तस्यनाट्यवेदस्यार्थस्ततपदैवरेव नाट्यवेद शब्देरेव संक्षिप्य अञ्जसा ऋजुवृत्याक्रियते ॥ इसलिए उस नाट्यवेद के अर्थ को उसी नाट्यवेद के शब्दों से ही संक्षेप करके विस्तार से कहे हुए को अल्परूप में करके अञ्जसा यानी सरल तरीके से लिखते हैं। इस तरह नाट्यवेद की ही व्याख्या दशरूपक है ऐसा लिखा है। और भी जैसे 'उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चिः। चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतास्ताण्डवं नीलकण्ठः। शर्वाणीलास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्मवः कर्त्तुमीष्टे नाट्यानाम्। इति।'

आचार्य शातकर्णी विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी तक के शिलालेखों में इसका नाम है। ऐसा नाटक लक्षण रत्नकोष के व्याख्याकार रुचिपति ने अपनी टीका में उद्धृत किया है। ये नाट्यशास्त्र के व्याख्याता हैं।

नाट्यप्रभा एवं नाट्यलोचन ग्रन्थ नाट्यशास्त्र की व्याख्या के रूप में उल्लिखित हैं, किन्तु इनके कर्त्ताओं के नाम अज्ञात हैं। और ये ग्रंथ भी अप्राप्य हैं। इनका उल्लेख केवल सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पुस्तकालय की सूची में है।

नाट्यप्रदीप सुन्दर मिश्र का है। नृत्याध्याय अशोक मल्ल का है। नाटकलक्षण पुण्डरीक विट्ठल का है। नाट्यलोचन त्रिलोचनादित्य का है। ये ग्रंथ भी नाट्यशास्त्र के प्रकाश विकाश के साधन हैं। अतः ये ग्रन्थ एक प्रकार के व्याख्यान ही हैं।

नाट्य-परम्परा के विषय में तीन प्रकार की आख्यायिकाएँ प्रचलित हैं। एक भरत की बतलाई हुई है जो नाट्यशास्त्र में उल्लिखित है। दूसरी शारदातनय ने अपने ग्रन्थ भाव प्रकाशन में उद्धृत की है। तीसरी नन्दिकेश्वर ने अपने ग्रंथ अभिनव दर्पण में बतलाई है। इसको क्रमशः हम दिखाते हैं।

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र मूलग्रन्थ में लिखा है कि एक समय नीति, बुद्धि एवं पराक्रम से नहुष राजा ने देवराज्य यानी स्वर्ग राज्य को प्राप्त किया और बड़ी सुन्दर व्यवस्था से उसका शासन किया। इस तरह उसने अपने कार्य काल में दैवी समृद्धि पाई। किन्तु गन्धर्वों के गान एवं अभिनय को देखकर चिन्ता हुई कि कैसे यह अभिनय मेरे राज्य में हो। इसके लिए उसने हाथ जोड़कर देवताओं से प्रार्थना की कि अप्सराओं का यह इस प्रकार का अभिनय मानव लोक में भी होना चाहिए।

इस प्रार्थना को सुनकर वृहस्पति प्रमुख देवताओं ने राजा नहुष से कहा कि नाट्यशास्त्र के आचार्य लोग आपके यहाँ पृथ्वी पर जायेंगे और वहाँ जाकर इस विद्या को मनुष्यों को सिखायेंगे।

भरत जी कहते हैं कि इसके बाद राजा नहुष ने मुझ से कहा कि हे भगवन्! मैं चाहता हूँ कि यह नाट्य मानव लोक में भी प्रतिष्ठित हो जाय। आपने सुना होगा कि मेरे पितामह के यहां उर्वशी ने नाट्य का प्रयोग किया था। किन्तु प्रचार नहीं हुआ, अब इसका प्रकाश पूर्णरूप से मानव लोक में हो।

इस पर मैंने (भरत) कहा कि अच्छा ऐसा ही होगा। इसके बाद मैंने अपने लड़कों को बुलाया और कहा कि आप लोग भूतल पर जाओ, इस नाट्य का विस्तार करो। इस तरह यह नाट्य देव जगत से मानव जगत में अवतरित हुआ।

दूसरी आख्यायिका यह है कि सूर्यवंशी राजा मनु पृथ्वी के शासनभार से क्लान्त हो गये और उन्होंने चिन्तन किया कि क्या किया जाय जिससे विश्राम मिले और सुख मिले। इसके लिए उन्होंने अपने पिता सूर्य भगवान के सम्मुख उपस्थित होकर अपना दुःख निवेदन किया। उत्तर में सूर्य ने कहा कि पहले ब्रह्माजी को भी सृष्टि करते-करते ग्लानि हुई थी, तब वे विष्णु भगवान् के पास गये और उनको अपना दुःख सुनाया। भगवान् ने ब्रह्मा जी से कहा कि तुम शिवजी के पास जाओ। वे वहाँ गये और उनसे सब बातें कहीं। शिवजी ने ब्रह्माजी के कष्ट को सुनकर नन्दिकेश्वर को आज्ञा दी कि तुमको जो मैंने नाट्यवेद पढ़ाया है, वह सब ब्रह्माजी को पढ़ा दो। नन्दिकेश्वर ने प्रयोग के सहित विस्तार के साथ ब्रह्माजी को नाट्यवेद पढ़ा दिया और कहा कि इसके प्रयोग से सृष्टि करने का परिश्रम दूर हो जायेगा और तुमको सुख मिलेगा।

इसके बाद उनकी आज्ञा पाकर वे अपने यहां ब्रह्मलोक में आये और विचार किया कि इसका प्रयोग होना चाहिए। ऐसी चिन्ता करते ही उनके सम्मुख आत्रेय, वशिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह एवं क्रतु ये पांच ऋषि उपस्थित हुए। ब्रह्माजी ने उनको कहा कि आप लोग नाट्यवेद का भरण करो, धारण करो। उसके बाद उन्होंने सुन्दर तरीके से प्रयोग करके ब्रह्माजी को प्रसन्न किया। ब्रह्माजी ने उनको आशीर्वाद दिया कि तुम लोगों ने नाट्यवेद का भरण किया अतः आप लोग भरत के नाम से प्रसिद्ध होवोगे। और यह नाट्यवेद भी आप लोगों के नाम से ख्याति को प्राप्त करेगा, इस वास्ते हे मनो! तुम ब्रह्माजी से प्रार्थना करो। इसके अनुसार मनु महाराज ब्रह्माजी के पास गये और अपनी सब गाथा कह सुनाई। ब्रह्माजी ने सब बात सुनकर भरतों को बुलाया और कहा कि आप लोग मनु के साथ पृथ्वी पर जाओ और इस नाट्यवेद का प्रचार करने के लिए वहीं रहो। इस आज्ञा के अनुसार वे लोग मनु के साथ अयोध्या में आये और नाट्यवेद का प्रचार प्रसार किया।

तीसरी आख्यायिका मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित, कलकत्ता में मुद्रित एवं नन्दिकेश्वर विरचित अभिनव दर्पण में इस प्रकार लिखी है, जो भरत के नाट्यशास्त्र से मिलती है। ब्रह्माजी ने भरत को नाट्यवेद पढ़ाया और उसके अनुसार प्रयोग करना भी सिखाया। एक समय में ब्रह्माजी ने भरत को आदेश दिया कि तुम लोग सब कोई मिलकर भगवान् शिवजी को यह अभिनय दिखलाओ, उनके समक्ष यह प्रयोग करो। इस तरह एक वाक्यता करके वे लोग कैलाश पर गये और उनसे नाट्याभिनय देखने की प्रार्थना की। उनकी स्वीकृति मिलने पर त्रिपुरदाह नामक डिम रूपक का प्रयोग दिखाया। भगवान् शिवजी बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि आपने पूर्वरंग में नाच-गान का प्रयोग नहीं किया, बिलकुल शुद्ध प्रयोग किया। सुनिये, मैंने संध्याकाल में नृत्य करते समय बहुत सुन्दर नृत्य का आविष्कार किया है। उसको इसमें सम्मिलित कर दो, जिससे तुम्हारा प्रयोग बहुत सुन्दर हो जायेगा।

इस प्रकार महेश्वर के वाक्य को सुनकर ब्रह्माजी ने कहा कि हे भगवन्! अंगहारों का प्रयोग हम लोगों को सिखलाइये। तब शिवजी ने तण्डु को बुलाकर कहा कि हे तण्डो! तुम भरत को आंगिकादि अभिनय सिखलाओ। इस प्रकार तण्डु से ताण्डव को सीख कर मुनि ने मर्त्यलोक में इसका प्रचार किया। इसक अनन्तर शिवजी ने पार्वती को आदेश दिया कि तुम लास्य का प्रयोग सिखलाओ। पार्वती जी ने वाणासुर की पुत्री उषा को लास्य का प्रयोग सिखलाया। उसने द्वारिका की नायिकाओं को सिखलाया। उससे सौराष्ट्र देश की औरतों ने सीखा, इस तरह लास्य का भी मर्त्यलोक में प्रचार प्रसार हुआ।

संगीत रत्नाकर में शार्ङ्गदेव ने नाट्य के आचार्यों की परम्परा इस प्रकार लिखी है—सदाशिव, पार्वती, ब्रह्मा, भरत, कश्यपमुनि, मतङ्ग, याष्टिक, दुर्गाशक्ति, शार्दूल,

कोहल, विशाखिल, दत्तिल, कम्बल, अश्वतर, वायु, विश्वासु, रम्भा, अर्जुन, नारद, तुम्बरु, आन्जनेय, मातृगुप्त, रावण, नन्दिकेश्वर, स्वाति, गुण, विन्दुराज, क्षेत्रराज, राहुल, रुद्रसेन राजा, राजा भोज, परमर्दी या परमार राजा और जयदेव महाराज।

कोहल भरत का पुत्र भी हुआ है जिसके ऊपर भरत को बहुत बड़ा नाज रहा है, भरोसा रहा है। भरत जब अपने पुत्रों को मानव लोक में नाट्य का प्रचार करने के लिये भेज रहे थे, तब उनको आश्वासन दिया कि मैंने जितना प्रयोग तुम लोगों को बतलाया है, उतने का तुम लोग प्रसार करो बाकी अंश को—'शेषमुत्तरतंत्रेण कोहलः पुरयिष्यति' कोहल उत्तर तंत्र के द्वारा पूरा करेगा। कोहल का बनाया हुआ ताल नामक ग्रन्थ है, जो इण्डिया लाइब्रेरी में सुरक्षित है, ऐसा मालूम हुआ है।

मतङ्ग मुनि की बनायी हुई बृहद्देशी नामक पुस्तक है जो अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली में छपी है, के० साम्बशिव शास्त्री के द्वारा सम्पादित है। इसी में दत्तिल का बनाया हुआ दत्तिल नामक ग्रन्थ भी छपा है, सम्पादित है। इसके सिवाय नाट्यशास्त्र में भरत ने वात्स्य एवं शाण्डिल्य के नाम निर्देश किया है।

नारद का बनाया हुआ संगीत मकरन्द ग्रन्थ है, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा में छपा है। ००

न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु ।
तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम् ॥

यद्यपि वेद भी मनोरम एवं व्युत्पत्तिप्रद है तथापि यह व्यवहार है, शिष्टाचार है, कि वेद शूद्र जाति के लिए पढ़ने लायक नहीं है, अतः पाचवां ऐसा वेद बनाइये जो सभी वर्णों के उपयोग का हो।

'नाट्यशास्त्र' की दृष्टिसंपूर्णता

□ डॉ० रघुवंश

● नाट्यरूप, साहित्य के अन्य समस्त रूपों से भिन्न है। जब कि साहित्य के सभी रूपों में लेखक और पाठक के दो ही आयाम हैं, नाटक में सूत्रधार के रूप में एक तीसरे आयाम की अनिवार्यता है। जब तक साहित्य के इस रूप के साथ इस आयाम को जोड़ा नहीं जाता, इसकी वास्तविकता की कल्पना नहीं की जा सकती। अलग-अलग इन आयामों का विवेचन भी बहुत विस्तृत संदर्भों की अपेक्षा रखता है, तथा इनका संश्लिष्ट प्रयोग और भी कौशल का कार्य है। लेखक के कथानक का विस्तार, दर्शकों की रसानुभूति और सूत्रधार द्वारा रंगमंच की सारी आयोजना नाट्यकला के अन्तर्गत समाहित है। यूरोप में प्राचीन ग्रीक काल से ही उच्चकोटि की नाटक-लेखन तथा अभिनय की परम्परा रही है। वहाँ नाट्यशास्त्र की चर्चा भी हुई है। पर नाट्यकला के सम्बन्ध में इतनी संश्लिष्ट और व्यापक दृष्टि वहाँ की विवेचनाओं में नहीं पाई जाती। परन्तु भारतीय परम्परा में नाट्यशास्त्र सम्बन्धी चर्चाएँ नाट्यकला की पूर्ण दृष्टि का परिचय देती है। भरत का 'नाट्यशास्त्र' इस बात का साक्षी है कि नाटक के विभिन्न आयामों के सम्बन्ध में इस देश में कितनी व्यापक और सूक्ष्म दृष्टि रही है। इस अकेले एक ग्रन्थ में ही नाट्यकला सम्बन्धी जितनी भी सम्भव चर्चाएँ हैं, नाट्य के विभिन्न अंगों के रूप में की गई हैं।

'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत जहाँ भी नाटक की सामान्य परिभाषा का उल्लेख मिलता है, वहाँ नाटक की यह त्रै-आयाम सम्बन्धी कल्पना भी स्पष्ट होती है। ब्रह्मा दैत्यों को समझाते हुए कहते हैं कि यह नाट्यवेद आपके तथा देवताओं के दोनों ही के शुभ-अशुभ को निर्धारित करनेवाला और दोनों ही के कार्यों तथा भावनाओं के अनुकरण की अपेक्षा रखता है। इसी संदर्भ में ब्रह्मा नाट्य की परिभाषा करते हैं—

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम् ॥ १। ११२

इस परिभाषा में एक ओर नाट्यकथा की वस्तु की व्याख्या है—'यह विविध अवस्थाओं से युक्त, अनेक प्रकार के भावों से संपन्न, लोकवृत्त का अनुकरण करने वाला नाट्य मेरे द्वारा रचा गया है।' यहाँ वस्तु के प्रसंग में अवस्थाएँ, जीवन की स्थितियाँ, भाव, मानवीय भावनाएँ तथा वृत्त का अनुकरण जीवन के यथार्थ के अर्थ में लिया जा सकता है। परन्तु दूसरी ओर इसी व्याख्या में, नाटयरचना के प्रसंग में अवस्थारूप

घटनाओं, लोकवृत्त के अनुकरण के रूप में अभिनय तथा भावसंपन्नता को दर्शकों की रसानुभूति के अर्थ में लिया जा सकता है। इन्द्र प्रभृति देवताओं ने ब्रह्मा से याचना करते समय भी ऐसे क्रीडनीयक की कामना की थी जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो (१।१२)। इस प्रकार दृश्यमयता को नाटक का मूल तत्व प्रारम्भ से 'नाट्यशास्त्र' में माना गया है। वस्तुतः सारा 'नाट्यशास्त्र' इन्हीं तीनों नाट्यकला के आयामों की बहुत व्यापक संदर्भ में विवेचना प्रस्तुत करता है।

हम उपर्युक्त आयामों के विस्तार का निर्देश करने के पूर्व 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य की व्यापक भूमिका का जो उल्लेख है, उसकी ओर ध्यान आकर्षित करना अपेक्षित समझते हैं। 'नाट्यशास्त्र' की साक्षी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय 'नाट्यकला' का समुचित विकास, इस देश में आर्यों के साथ देव, दानव, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष तथा महानाग जातियों का समुचित योग होने के बाद हुआ (३।१०)। आर्यों के जीवन में नागरिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ विषमता बढ़ने लगी थी। काम-लोभ-ईर्ष्या आदि से आक्रान्त होकर उनका लोकधर्म में प्रवृत्त जीवन सुख-दुःख से आन्दोलित हुआ था। जान पड़ता है इसके पूर्व आर्यों का समुदाय और परिवारों से पूर्णतः शासित और वेदशास्त्र (अर्थात् पुरोहित वर्ग) के धर्म से नियोजित जीवन अधिक विषम नहीं हो सका था। परन्तु अन्य जातियों के समागम के साथ इस जीवन की विषमता को पूर्णतः प्रतिबिम्बित करने वाले नाट्य का विकास हुआ जो धर्म-अर्थ की प्राप्ति करने वाला यश देने वाला, उपदेश और लोकहित की भावना से युक्त भावी लोक-समाज के कर्मों का निर्देशक समझा गया (१।१४)। परन्तु मूलतः इसका उद्देश्य लोकानुरंजन स्वीकार किया गया है। 'नाट्यशास्त्र' की साक्षी के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि नाट्य के पूर्ण अभ्युदय काल में वेद के साथ लोक की सशक्त परम्परा स्थापित हो चुकी थी, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। और इस लोक की परम्परा का समुचित अर्थ यही हो सकता है कि नाना जातियों के सम्मिलन से समाज में अनेकानेक ऐसी परम्पराएँ तथा मान्यताएँ स्वीकृत हो चुकी थीं, जो वेदविहित नहीं थीं, पर जिनको ग्रहण कर लिया गया था। ये मान्यताएँ तथा विश्वास दूसरी जातियों के द्वारा समाज में प्रचलित किए गए होंगे।

ऐसा नहीं कि नाट्यतत्वों का वैदिक समाज में अभाव था। उसके विभिन्न तत्वों का विकास आर्यों के सामाजिक जीवन में ही हो चुका था, जिन्हें नाट्य के पूर्ण विकास में देखा जा सकता है। भरत ने स्पष्ट कहा है कि ऋग्वेद से नाट्य के कथोपकथन (पाठ्य) का, सामवेद से गान का, यजुर्वेद से अभिनय का तथा अथर्ववेद से रस का विकास हुआ है (१।१७)। परन्तु यह भी सत्य है कि यह नाट्य लोक-प्रमाण पर मुख्यतः आधारित है अर्थात् उसके विकास की वास्तविक भूमिका लोक-जीवन के कलात्मक तत्वों का संगठन है। लोकवृत्त के अनुकरण के कारण, यद्यपि वेद तथा अध्यात्म प्रमाणों से नाट्य की व्यवस्था को अनुशासित माना गया, इसके लिए लोक ही

अन्तिम प्रमाण स्वीकार किया गया (२६।११८।१२६)। यहाँ इस लोक-प्रमाण का तात्पर्य यह माना जा सकता है कि नाट्य-सम्बन्धी जितनी मान्यताएँ हैं उन सबका आधार लोक जीवन में है। क्योंकि नाट्य के अन्तर्गत लोकजीवन से सम्बन्धित घटनाएँ अपनी समस्त अवस्थाओं के साथ प्रस्तुत की जाती हैं, अतः लोक-धर्म में प्रवृत्त जितने भी शास्त्र, धर्म, शिल्प तथा कार्य हैं सब उसमें स्थित होते हैं। वस्तुतः लोक की भावात्मक चेष्टाओं के सम्बन्ध में शास्त्र पूर्णतः नियम बनाने में असमर्थ हैं, अतः नाना शील तथा प्रकृतियों से युक्त चरित्रों पर आधारित नाटक के सम्बन्ध में अन्तिम प्रमाण लोक ही माना जाना चाहिये (२६।१२३,१२४,१२५,१२६)।

नाट्य के विकास में इतिहास का संयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—'नाट्याख्यं पंचमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।' वस्तुतः इतिहास के रूप में नाटक में महाप्रवन्ध काव्यों के कथातत्त्व को स्वीकार किया गया है। आगे इतिहास शब्द का प्रयोग नाट्य-रचना के लिए किया गया है—'इतिहासो मयासृष्टा स सुरेषु नियुज्यताम्', अर्थात् यह रचना मेरे द्वारा प्रस्तुत है, इसका नियोजन (अभिनय) देवताओं से कराया जाना चाहिए। अभिनय के विना महाकाव्यों के समान नाटक भी इतिहास की कोटि में आएगा। पर इनमें साथ ही इतिहास के रूप में कथातत्त्व अनिवार्य है—

'वेदविद्येतिहासानामाख्यानपरिकल्पनम्।
विनोदकरणं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति।' (१।१२०)

वेदों, विद्याओं तथा इतिहासों (कथाओं) की परिकल्पना प्रस्तुत करने वाला नाट्य लोक अनुरंजन करनेवाला है। 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय में इस बात का उल्लेख है कि प्रथम घटना जिसका अनुकरण नान्दी में किया गया वह दैत्यों पर देवताओं की विजय थी, वस्तुतः इसी कारण अपने अपमान को देखकर दैत्यों ने नाट्य में विघ्न भी उपस्थित किए थे (१।५७,१०३)। इस उल्लेख से एक ओर यह सिद्ध होता है कि प्रथम नाटक में प्रसिद्ध इतिवृत्त को स्वीकार किया गया था, तो दूसरी ओर यह भी संकेत मिलता है कि दैत्य और देवता दोनों एक ही परम्परा से विकसित जातियाँ थीं और नाट्य में दोनों के शुभ अथवा अशुभ कर्मों तथा भावों को प्रस्तुत किया गया। इतना ही नहीं नाटक की कथावस्तु के अंतर्गत तो समस्त त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण स्वीकार किया गया है (१।१।७)। नाट्य में सप्त द्वीपों की घटनाओं तथा राजाओं, ब्रह्मर्षियों, साधारण जनों के साथ देवताओं और असुरों जैसे चरित्रों का भी अनुकरण रहता है (१।११७,११८)। चौथे अध्याय में 'अमृतमंथन' नामक समवकार तथा 'त्रिपुरदाह' नामक डिम का उल्लेख मिलता है, जो पौराणिक आख्यान पर आधारित है।

'नाट्यशास्त्र' में नाट्यवेद को पंचमवेद कहा गया है और इसे सभी वर्णों के द्वारा व्यवहार्य माना गया है (१।१२)। स्पष्टतः नाटक में सभी शास्त्रों का प्रयोग लोकानु-

रंजन के स्तर पर होता है। नाट्य की व्यापकता के संबंध में भरत मुनि का कहना है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ (१।११६)

ऐसा न कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न कला है, न विद्या है, न योग है, न काम है जो इस नाट्य में न देखा जाता हो। वस्तुतः नाट्य की कथावस्तु में एक ओर जीवन का इतना व्यापक अनुकरण होता है कि उससे कुछ भी छूट नहीं पाता, इसके अतिरिक्त नाट्य के प्रदर्शन में वास्तु, मूर्ति, चित्र तथा संगीत आदि अनेक कलाओं का सहयोग होता है। 'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत काव्य-शास्त्र (अलंकार, रस), छंदशास्त्र, भाषण-कला, संगीतशास्त्र, (गायन, वाद्य, नृत्य), भावाभिनय, वस्त्राभूषणकला तथा कामशास्त्र आदि अनेक कलाओं तथा विद्याओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। ऐसा जान पड़ता है इन अनेक कलाओं में कई का सम्वन्ध आर्येतर जातियों से था और उनकी परम्परा से नाट्यकला में उनका संयोग हुआ है। 'नाट्यशास्त्र' के साक्ष्य पर एक तथ्य की ओर और ध्यान आकर्षित होता है; धीरे-धीरे किसी समय नाट्यकला का सम्वन्ध निम्नवर्ग से रह गया और समाज में इसको क्षुद्र नर्तकों का सेवा करने वाला वर्ग माना गया। भरत पुत्रों में जिस नाट्यकला का प्रचार था वह अत्यन्त सम्मानित थी, पर बाद में इसे वह आदर नहीं मिल सका। 'नाट्यशास्त्र' के छत्तीसवें अध्याय में भरत पुत्रों को मुनिवरों द्वारा शाप दिए जाने की जो कथा है उससे यही ध्वनित होता है। देवताओं ने ऋषियों से उनके शापमोचन की प्रार्थना भी की, पर उन्होंने कहा कि नाट्यवेद तो नष्ट नहीं होगा, लेकिन अन्य शाप का अंश ज्यों का त्यों रहेगा अर्थात् नाट्यकलाविद् नीचे माने जायेंगे (३६।४०)। अंत में नहुष की प्रार्थना पर जब भरत ने अपने पुत्रों को भूलोक जाकर नाट्य के प्रचार का आदेश दिया, उस समय उन्होंने उनको सम्यक् नाट्य प्रयोग करने पर शाप का अंत कर देने का भी वचन दिया—करिश्यामि च शापान्तं अस्मिन् सम्यक्प्रयोजिते। (३६।६२)

'नाट्यशास्त्र' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सम्पूर्ण नाट्य की कल्पना एक पूर्ण इकाई के रूप में की गई है। केवल ऐसा नहीं कि नाट्य के अन्तर्गत आने वाली सभी कलाओं का तथा उसके सभी अंगों का अलग-अलग विवेचन इसमें दिया गया हो। नाट्यशास्त्रकार की दृष्टि सदा इन समस्त विभिन्न कलाओं तथा अंगों को नाट्य के संदर्भ में एक संश्लिष्ट इकाई के रूप में ग्रहण करती है। 'नाट्यशास्त्र' में जब नाटकीय रचना को दृष्टि में रखकर उसके कथा, नायक, रस आदि अंगों का विवेचन किया गया है, उस समय शास्त्रकार नाट्य के न अभिनय पक्ष को दृष्टि से ओझल होने देता है और न दर्शकों को ही विस्मृत कर पाता है। रस का सारा विस्तार, विभावानुभाव में उसका विभाजन, स्थायी और संचारी भावों की कल्पना, उद्दीपन तथा सात्विक भावों का विवेचन सब

इस बात को सिद्ध करते हैं कि शास्त्रकार की दृष्टि में अभिनय की प्रधानता है और साथ ही वह दर्शकों के रसबोध को भी समझकर चलता है। कथावस्तु का विभाजन, क्रम तथा विकास तथा उसकी अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और संधियों का सारा प्रसार कथावस्तु के नाटकीय संघटन को तो सँभालता ही है, उसके प्रदर्शन की प्रकृति को भी निर्धारित करता है। इतना ही नहीं, इससे दर्शकों की नाटकीय कथावस्तु के प्रति उत्सुकता का आभास भी मिलता है। पात्रों के रूप में नायक-नायिकाओं का विभाजन, राजाओं के अन्तःपुर की स्त्रियों का वर्णन, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति आदि का विवेचन और साथ ही नाट्य परम्परा के पात्रों, सूत्रधार, पारिपार्श्विक, विट, विदूषक, शकार, नट, चेट आदि का निरूपण भी नाट्याभिनय की दृष्टि से हुआ है, उनकी प्रकृति, व्यवहार तथा स्वभाव आदि के विवेचन से यह सिद्ध होता है। (अ० २४, २५)।

'नाट्यशास्त्र' में नाट्य का अभिनय पक्ष बहुत विस्तार से प्रस्तुत किया गया है, संभवतः आधुनिक युग में भी अभिनय कला का इससे पूर्ण और सर्वांगीण विवेचन नहीं किया जा सकता, यदि वैज्ञानिक उन्नति से सम्भव प्रयोगों को दृष्टि में रखकर विचार किया जाए। पहले तो इसका आंगिक, सात्त्विक, वाचिक तथा आहार्य में विभाजन ही सूक्ष्म और व्यापक दृष्टि का परिचायक है। आंगिक अभिनय का विस्तार 'नाट्शास्त्र' में आठवें से लेकर तेरहवें अध्याय तक है, इस विशद वर्णन से शास्त्रकार की आंगिक अभिनय सम्बन्धी अन्तर्दृष्टि का पूर्ण परिचय मिल जाता है। शरीर तथा मन की जटिल प्रक्रिया का इतना सूक्ष्म अनुभव अभिनय के लिए आवश्यक माना गया है। कथा के मूल तत्त्व तथा चरित्रों के सम्बन्ध में सूत्रधार तथा अभिनेताओं का इतना व्यापक तथा सूक्ष्म ज्ञान नहीं होगा, तो नाट्यकला सफल नहीं हो सकेगी। आठवें अध्याय में शिर, दृष्टि, कपोल, ओठ, अधर, चिबुक, नाक तया ग्रीवा के अभिनय का वर्णन है, वस्तुतः इस अभिनय से मुख्यतः भावाभिव्यक्ति की जाती है। नवें अध्याय में हस्त की, दसवें में उर, जठर, पार्श्व, कटि, जाँघ तथा पैर आदि शरीर के अन्य अवयवों की, ग्यारहवें में चारी विधान की (पाद, जांघ, कटि तथा उरु) तथा बारहवें मंडल-विधान की स्थितियों का (चारियों के विविध-संयोग से सम्पन्न) अभिनय बताया गया है। इस समस्त अभिनय में कार्य की व्यंजना अधिक और भावों की व्यंजना कम होती है। सात्त्विक अभिनय का सम्बन्ध विशेष रूप से भावात्मक अभिनय से है और इसका प्रसंग चौबीसवें अध्याय के अन्तर्गत स्वभावज तथा अयत्नज अलंकारों के रूप में और सामान्य तथा मानसिक अभिनय के अन्तर्गत आया है। छब्बीसवें अध्याय के अन्तर्गत संचारी भावों के अभिनय की विवेचना की गई है। वाचिक अभिनय के महत्व को 'नाट्यशास्त्र' ने समझा है और इसी के अनुरूप इस विषय को अनेक पक्षों से उठाया गया है। इसके अन्तर्गत भाषा (अ० १५), साहित्यिक वृत्तों (अ० १६), अभिनयात्मक कथोपकथन के छत्तीस लक्षण (अ० १७) तथा चार अलंकारों (अ० १७) का समुचित निरूपण किया गया है। आहार्य का विषय 'नाट्यशास्त्र' के तेईसवें अध्याय में उठाया गया है और इसमें पात्रों की वेशभूषा तथा रूपसज्जा का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें रस की

अनुकूलता पर तथा देश की अनुरूपता पर विचार किया गया है, जिससे शास्त्रकार की सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है।

अभिनय की समग्र दृष्टि के साथ 'नाट्यशास्त्र' में रंगमंच की सांगोपांग कल्पना भी की गई है। इस विषय में सबसे पहले तो प्रेक्षागृहों की रचना का विस्तृत विधान दिया गया है, जिसके आधार पर स्पष्टतः कहा जा सकता है कि भारतीय नाट्य में अभिनय को सूक्ष्मकला के रूप में स्वीकार किया गया है। वाणी, अंगों, मुखाकृति तथा अनेक सात्त्विक अनुभवों द्वारा यहाँ सूक्ष्म भावाभिनय की परम्परा रही है और प्रेक्षागृह की रचना में इस बात का ध्यान रखा जाता था कि प्रत्येक प्रेक्षक में अभिनय के गम्भीर सूक्ष्म अर्थ को समझने की स्थिति होनी चाहिए। मध्यमाकृति प्रेक्षागृह को इसी दृष्टि से अधिक उपयुक्त माना गया है—'तत्र पाठ्यं च गेयं च सुखश्रव्यतरं भवेत्' (२।१३)। चौदहवें अध्याय में रंगमंच की कक्षाओं का तथा विभिन्न देशों की प्रवृत्तियों का वर्णन किया गया है। इसके अन्तर्गत रंगमंच की समस्त योजना आ जाती है, अर्थात् एक ओर तो इस बात का पता चलता है कि रंगमंच पर नगर, पर्वत, उपवन की योजना की विधि क्या है और दूसरी ओर विभिन्न देशों की विशेष प्रकृतियों का विवेचन किया गया है। इसके साथ छब्बीसवें अध्याय में विभिन्न ऋतुओं के प्रदर्शन का प्रसंग भी है। बाईसवें अध्याय में वृत्तियों का विवेचन है और इनकी व्याख्या से 'नाट्यशास्त्र' का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। इन वृत्तियों के विवेचन में नाट्यरचना की विविध शैलियों, अभिनय की विविध रीतियों के साथ रस के अनिवार्य सम्बन्ध की स्थापना की गई है। इस प्रकार इन वृत्तियों के प्रसंग में भी शास्त्रकार की समग्र दृष्टि का परिचय मिलता है।

भारतीय नाट्य की परम्परा में संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, यह 'नाट्यशास्त्र' से सिद्ध होता है। संगीत के तीनों अंगों— नृत्य, गायन तथा वादन का 'नाट्यशास्त्र' में विस्तृत विवेचन नाटक के सूक्ष्य भावाभिनय की दृष्टि से तथा उसमें रसमय वातावरण की सृष्टि के लिए किया गया है। चौथे अध्याय में नृत्त का विस्तार है और उसके विभिन्न अंगों—करण, अंगहार तथा रेचकों का सूक्ष्म विवेचन है। वस्तुतः नृत्त ही भावाभिनय के स्तर पर चारी-विधान के साथ नृत्य हो जाता है। आंगिक अभिनय के साथ नृत्त तथा नृत्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अट्ठाईसवें अध्याय से लेकर तैंतीसवें अध्याय तक गायन तथा वादन का प्रसंग है। इस विवेचन में अभिनय तथा रसों के अनुकूल लय, ताल, राग तथा वाद्यों का प्रयोग बताया गया है। वस्तुतः जिन विभिन्न शास्त्रों का समाहार 'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत हुआ है, यद्यपि उनकी दृष्टि नाट्यकला-सापेक्ष्य रही है, फिर भी उनका अपना विस्तार पूर्ण शास्त्र के ढाँचे को प्रस्तुत करता है और इस आधार पर भारतीय शास्त्रों की प्राचीन परम्पराओं को स्थापित किया जा सकता है। ००

लेखक की पुस्तक 'नाट्यकला' से उद्धृत

अनामदास द्वारा भरतमंच की आँखों देखी रपट

□ स्व० आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः

[स्व० आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के ग्रन्थ 'अनामदास का पोथा—अथ रैक्व आख्यान' में भरत के रंगमंच का सजीव वर्णन मिलता है। राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित इस गौरव ग्रन्थ के कुछ अंश आचार्य चरण को विनीत श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए प्रस्तुत हैं।]

● रंगमंच का निर्माण बड़े आडम्बर के साथ हुआ। हजारों कर्मकार उसमें लगाये गये। उन दिनों रंगमंच का निर्माण बड़ी सावधानी के साथ किया जाता था। भूमि-निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक वह बहुत सावधानी से सँभाला जाता था। सम, स्थिर और कठिन भूमि तथा काली या गौर वर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। भूमि को पहले से जोता जाता था। उसमें से अस्थि, कील, कपाल, तृण-गुल्मादि को साफ किया जाता था, उसे सम और पटसर बनाया जाता था और प्रेक्षागृह के नापने की विधि शुरू होती थी। प्रेक्षागृह का नापना बहुत महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। माप के समय सूत्र का टूट जाना बहुत अमंगलजनक समझा जाता था। सूत्र ऐसा बनाया जाता था जो सहज ही न टूट सके। वह या तो कपास से बनता था, बेर की छाल से बनता था या मूंज से बनता था और किसी वृक्ष की डाल की मजबूत रस्सी भी काम में लायी जा सकती थी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि सूत्र आधे से टूट जाये तो स्वामी की मृत्यु होती है, तिहाई से टूट जाये तो राजकोष की आशंका होती है, चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता का नाश होता है। हाथभर से टूटे तो कुछ सामग्री घट जाती है। इस प्रकार सूत्र-धारण का काम बहुत ही महत्व का समझा जाता था। तिथि, नक्षत्र, करण आदि की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था और इसका पूरा ध्यान रखा जाता था कि कोई काषायवस्त्रधारी, हीन-वपु या विकलांग पुरुष मण्डप - स्थापना के समय अचानक आकर अशुभ फल न उत्पन्न कर दे। खम्भा गाड़ने में भी बड़ी सावधानी बरती जाती थी। खम्भा हिल गया, खिसक गया या कांप गया तो अनेक प्रकार के उपद्रवों की सम्भावना मानी जाती थी। रंगशाला के निर्माण की प्रत्येक क्रिया में भावाजोखी का डर लगा रहता था। पद-पद पर पूजा, प्रायश्चित और ब्राह्मण भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। भित्ति-कर्म, माप-जोख, चूना पोतना, चित्र-कर्म, खम्भे गाड़ना, भूमि-शोधन प्रभृति सभी क्रियाएं बड़ी सावधानी से और आशंका के साथ की जाती थीं। इन बातों को जाने बिना यह समझना बड़ा कठिन होगा कि सूत्रधार का पद इतना

महत्वपूर्ण क्यों था। उसकी जरा सी असावधानी अभिनेताओं के सर्वनाश का कारण हो सकती थी। नाटक की सफलता का दारोमदार सूत्रधार पर रहता था।

० ० ०

सायंकाल आडम्बर के साथ गन्धर्व-पूजन नाटक का अभिनय शुरू हुआ। पहले रङ्ग-पूजा हुई। सूत्रधार ने बता दिया कि पुराकाल में जब नाटक का अभिनय किया गया था, तो दैत्यों ने बड़ा उपद्रव किया था। उसी के शमन के लिए रङ्गपूजा का विधान है। नगाड़ा बजाकर रङ्गपूजा की घोषणा हुई। फिर गायक और वादकों ने आसन ग्रहण किया। मृदंग, वीणा, वेणु आदि वाद्यों के साथ रंगभूमि में अप्सरा-वेशधारी एक कमनीय-कान्ति भ्रुंकुश से नृत्य-लोल नूपुरों की झंकार से नाटक की उत्थापना का अभिनय किया गया। फिर सूत्रधार का प्रवेश हुआ। उसकी एक ओर गडुए में पानी लिये भृंगार-धर आया, दूसरी ओर विघ्नों को जर्जर कर देनेवाली पताका लिये जर्जर-धर। इन दो परिपार्श्वकों के साथ सूत्रधार पांच पग आगे बढ़ा। ये पांच पग साधारण पग नहीं थे। प्रत्येक पग पर गौरवपूर्ण भंगिमा में अभिनय था। फिर सूत्रधार ने बिल्कुल वैदिक विधि से भृंगार से जल लेकर आचमन-प्रोक्षण आदि पवित्र करने वाली क्रियाओं का अभिनय किया। सबसे गरिमा-भरा अभिनय था जर्जर (पताका) का उत्तोलन। इन्द्र देवता इस क्रिया से प्रसन्न हुए। दर्शक-दीर्घिका से अक्षत-पुष्पों की वर्षा हुई। फिर सूत्रधार ने दाहिने पैर के अभिनय से शिव की और बाएँ पैर के अभिनय से विष्णु की वन्दना की। पहला पद पुरुष का और दूसरा स्त्री का माना जाता था। एक तीसरा पद नपुंसक माना जाता था। इसमें दाहिने पैर को नाभि तक उत्क्षिप्त करके स्थिर मुद्रा में रखा जाता था। सूत्रधार ने इस नपुंसक पद के अभिनय से ब्रह्मा की वन्दना की। यह शायद तत्काल प्रचलित ब्रह्म के स्वरूप का नाटकीय उपस्थापन था। ब्रह्मवादी लोग मानते थे कि ब्रह्म न स्त्री है न पुरुष है और फिर भी सबसे ऊपर वास्तविक सत्य है। चारों रंगों के फूलों से जर्जर की पूजा। और फिर सभी वाद्ययन्त्रों की पूजा हुई। इसके बाद सूत्रधार ने राजा के कल्याण की प्रार्थना की, राजकुमारी के अचल सौभाग्य-प्राप्ति की शुभकामना की और फिर बड़े गुरु-गम्भीर भाव से नान्दीपाठ का आयोजन किया गया। प्रत्येक पद-संचार में गौरव-भाव था। यह नाटक मनोरंजन की अपेक्षा पूजन अधिक था—प्रत्येक क्रिया में पूजा का भाव।

जाबाला और अरुन्धती महिलाओं की दीर्घिका में सबसे आगे थीं। बेंत की बनी एक झीनी तिरस्करिणी (पर्दा) महिलाओं की दीर्घिका अलग कर रही थी। वे बाहर के दृश्य देख सकती थीं, पर बाहर बैठे लोग उन्हें नहीं देख सकते थे।

नाटक का कथानक बहुत जाना हुआ ही था, पर उसका अभिनय करना कठिन था क्योंकि भावों के उतार-चढ़ाव का सात्विक अभिनय निपुण कलाकारों को भी कठिनाई में डाल

सकने योग्य था। कथानक यह था कि ऋषिकुमार ऋष्यश्रृङ्ग मातृ-पितृहीन होकर तप करने लगा। उसने अपने जीवन में किसी स्त्री को देखा ही नहीं था। उसका चित्त सहज ब्रह्मचर्य से आलोकित था। देवराज इन्द्र को भय हुआ कि वह तपोबल से इन्द्र का सिंहासन प्राप्त कर लेगा। उन्होंने गन्धर्वराज को ऋषिकुमार का तपोभंग करने का आदेश दिया। गन्धर्वराज ने अपने प्रमुख सेनानायक पुष्पधन्वा कामदेव को अप्सराओं की एक टुकड़ी के साथ ऋषिकुमार का तपोभंग करने के लिए नियुक्त किया। कामदेव ने फूलों का धनुष और फूलों का ही वाण लेकर ऋषिकुमार ऋष्यशृंग पर आक्रमण किया।

यहाँ तक अभिनय अधिकतर वेशभूषा का ही था। अप्सरा-रूप में सजे भ्रू कुश दिव्य आभरणों से रंगभूमि को आलोकित कर रहे थे।

आगे का प्रसंग इस प्रकार था—ऋषिकुमार ने एक साथ इतनी सुन्दर अप्सराओं को देखकर समझा कि ये दिव्य-लोक के देवता हैं। संभ्रम-पूर्वक उठकर उसने वैदिक मन्त्रों से उनकी अभ्यर्थना की। उसके ललाट पर भक्ति की प्रदीप्त रेखा उभर आयी, आँखों में अपार औत्सुक्य लहरा उठा। उसकी पिंगल जटाएं भावोद्रेक से काँप उठीं। दोनों हाथ जोड़कर उसने "वन्दना की—'आज सविता देवता प्रसन्न हैं, उषःलोक धरित्री पर उतर आया है, हे दिव्य ज्योतिर्गण, मेरा विनीत नमस्कार लें।"

ऋषिकुमार की बड़ी-बड़ी निर्मल आँखों में अपार विस्मय और श्रद्धा के भाव थे। अरुन्धती उसके भोलेपन पर हँसने का उपयुक्त अवसर मान रही थी। इसी बीच उसने जाबाला को देखा—आँखों से अविरल अश्रुधार बह रही थी, वह दवाने का प्रयत्न करके भी अपना आर्त्त क्रन्दन दवा नहीं पा रही थी। अरुन्धती ने चिन्तित स्वर में पूछा—दीदी, क्या हो गया तुम्हें! दीदी, दीदी! जावाला और भी फूट पड़ी। अरुन्धती हैरान! यह क्या हुआ, जहाँ ऋषिकुमार की मूर्खता पर हँसना चाहिए, वहाँ दीदी रोने लगी। वह कुछ नहीं समझ पायी।

परन्तु उसी समय अप्सराएँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं। उन्होंने ऋषिकुमार को घेर कर मनोहर लास्य नृत्य किया। उनकी आँखें निरन्तर कटाक्ष-वाणों की वर्षा कर रही थीं। ऋषिकुमार भौंचक्का देख रहा था। एक अप्सरा ने फूल से ऋषि के ललाट पर आघात किया। ऋषिकुमार से चकित मृगशावक की भाँति उसकी ओर अपनी निर्मल आँखें फेरी। इसी समय सेनानायक ने अमोघ पुष्पवाणों को प्रत्यंचा पर चढ़ाने का अभिनय किया। उसकी उन्मत्त चारिकाओं से रंगभूमि हिल उठी। अप्सराएं इंगित समझकर, यह सोचकर कि वाण को ठीक लक्ष्य पर गिरने में कोई रुकावट न हो, लोलायित गति से दूर हट गयीं। ऋषिकुमार कुछ भी न समझकर खड़ा का खड़ा रह गया। इसी समय एक अप्सरा सुव्रता दौड़ती हुई ऋषिकुमार के पीछे आकर खड़ी हो गयी।

फूलों का वाण खींचा जा चुका था। सुव्रता ने चिल्लाकर कहा—"कुसुम सायक अपना वाण समेटो। ऐसे पवित्र-हृदय बालक पर तुम्हारे वाणों को नहीं गिरना चाहिए। रुको-रुको, महान् अनर्थ हो जायेगा। ऐसे पवित्र ऋषिकुमार पर वाण फेंकोगे तो द्यावा-पृथिवी डोल जायेगी, सूर्य का प्रभामण्डल विवर्ण हो जायेगा। हाय प्रभो, इस पवित्र तरुण तापस को पापिनियों के माया-जाल से बचाओ।"

अप्सराएं और भी जोर से खिलखिला उठीं। फूलों का वाण छूट चुका था। सुव्रता ने पीछे से ऋषिकुमार को ढंक लिया। फूलों का बाण उनकी छाती में लगा। कुछ छिटकी पपड़ियाँ ऋषिकुमार की पिंगल जटाओं पर पड़ीं।

दर्शक-मण्डली "साधु साधु" की ध्वनि से जिस समय रंगमंच को हिला रही थी, उसी समय जाबाला जोर से रो पड़ी। अरुन्धती की गोद में निढाल पड़ी वह देर तक सुबकती रही। अरुन्धती बुरी तरह मर्माहत थी—दीदी, चलो, यह नाटक तुम्हें कष्ट दे रहा है! जाबाला ने इशारे से कहा—नहीं। अरुन्धती की चपल वाचालता बर्फ-सी जम गयी। लेकिन नाटक चलता रहा।

ऋषिकुमार ने सुव्रता को देखकर उल्लसित होकर स्तुति की। प्रथम नारी-दर्शन से चकित नयन अब भी उसी मुद्रा में थे—"आज सविता प्रसन्नोदय हैं। तुम्हारा स्पर्श कितना मीठा है, तुम्हारी वाणी कितनी मनोहर है, दिव्य आनन्द की स्रोतस्विनी मेरा प्रणाम स्वीकार करो।" सुव्रता ने ऋषि के चरणों को अपने काले मसृण केशों से पोंछ दिया। उसकी आँखों से अश्रुधारा फूट पड़ी। "हाय, ऋषि कुमार के मुंह से कैसी वाणी निकल रही है। ऐसी सत्य वाणी आज तक नहीं सुनी। चाटूक्तियाँ बहुत सुनी हैं। पर ऐसा सच्चा मोहन—स्तव तो मेरे अन्तर्यामी ने कभी नहीं सुना। आज मेरा नारी-शरीर धन्य हुआ। मगर उधर मत देखो। हे ज्वलन्त अग्नि, इन पापीयसी स्त्रियों की विषाक्त दृष्टि की छवि तुम्हारे योग्य नहीं है। मैं मरकर भस्म बन कर तुम्हारे ऊपर छा जाऊंगी पर पापीनियों के कटाक्ष की छवि तुम पर नहीं पड़ने दूंगी। प्रभो, मैं धन्य हुई।"

दृश्य बदला। जाबाला की आँखों की झड़ी वैसी ही बनी रही। अरुन्धती का चिन्ता-कातर मुख यथापूर्व।

नये दृश्य में गन्धर्वराज के सामने बंदिनी विद्रोहिणी सुव्रता लायी गयी। गंधर्वराज क्रोध से तिलमिला रहे थे—"तू दिव्यलोक में रहने योग्य नहीं। तुझे दण्ड मिलेगा।"

—सब दण्ड स्वीकार है प्रभो।

—तुझे मर्त्यलोक में मानवी होकर जाना पड़ेगा।

—जाऊँगी प्रभो।

इसी समय कामदेव उपस्थित हुए — दोष मेरा है। प्रभो, मुझसे ही वाण चूक गया है। इसे क्षमा किया जाय।

गन्धर्वराज असमंजस में पड़ गये।

— मेरी बात अन्यथा नहीं हो सकती।

तो, प्रभो स्वर्गलोक ही वंचित होगा। मर्त्यलोक धन्य हो जायेगा।

— मर्त्यलोक में इसे जाना पड़ेगा। पर मैं इसका अपराध क्षमा कर सकता हूँ, यदि यह अशोक-पूजन करके यह अभिलाषा प्रकट करे कि इसे मर्त्यलोक से मुक्ति मिले।

फिर अशोक - पूजन का अभिनय हुआ। एक अप्सरा ने ही प्रफुल्ल अशोक-वृक्ष का अभिनय किया। उसका सारा शरीर लहरदार हरे रंग की साड़ी से आवृत था। बीच-बीच में कंधे पर से ही खिले हुए लाल-लाल पुष्प-स्तवक उस शोभा को सौ गुना बढ़ा रहे थे। अप्सरा एक पैर पर प्रत्यालीढ मुद्रा में खड़ी थी। और दोनों हाथों द्वारा सुकुमार भाव से विलुलित वायु-से लहराते रहने का अभिनय कर रही थी। पूजा की सारी विधि वही जिससे प्रातःकाल जाबाला द्वारा पूजन कराया गया था। भरत-पुत्र ने पूजा के अन्त में कहा—अपनी अभिलाषा का ध्यान करो। तुम्हें प्रत्यक्ष फल मिलेगा।

सुव्रता ध्यान-मग्न हुई। रंगमंच के एक किनारे ऋषिकुमार की शान्त मूर्ति कुछ खोजती हुई-सी आविर्भूत हुई। सुव्रता झटके से उठी और ऋषिकुमार के चरणों पर लोट गयी। सूत्रधार ने भरत-वाक्य पढ़ा—"पृथ्वी शस्य से समृद्ध हो, राजा में प्रजा के प्रति कल्याण बुद्धि उदित हो, सारी कुमारियां अभिलषित वर प्राप्त करें, किशोरों में प्रिया के प्रति अनुराग बढ़े और समस्त प्रजा सुखी हो!"

नाटक समाप्त हुआ। जाबाला भी उत्फुल मुद्रा में उठ बैठ गयी, दर्शकमण्डली के साधुवाद से रंग-स्थल गूंज उठा।

• • •

वृत्ति कथा

कोहलीय लोग गन्धर्व-शान्ति के बहुत उत्तम उपाय जानते हैं। धर्मात्मा होते हैं महाराज।

— कोहलीय लोग क्या करते हैं ?

— नाटक करते हैं। आजकल गाँवों में नाटक नाच करनेवाले भ्रष्ट हो गये हैं। कोहलीय वैसे नहीं हैं। वे कैशिकी-वृत्ति को नहीं मानते, इसलिए उनकी पवित्रता बनी हुई है।

—कैशिकी वृत्ति ?

— हां महाराज। कोहलमुनि, भरतमुनि के प्रधान शिष्य थे। उन्हीं का सम्प्रदाय कोहलीय सम्प्रदाय कहा जाता है। ये लोग मानते हैं कि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में केवल भारती वृत्ति का प्रवर्तन किया था, जिसमें शब्दों के ही भाव प्रकट करने पर जोर दिया जाता है। और दो वृत्तियां भी वे लोग मानते हैं, लेकिन चौथी वृत्ति कैशिकी को वे लोग नहीं मानते।

— कैशिकी वृत्ति क्या होती है ?

—ऐसा होता है महाराज, मनुष्य ही देवता या गन्धर्व का रूप धारण करके रंग-भूमि पर उतरता है। इसमें अप्सराओं की भी भूमिका होती है। कोहलीय लोग कहते हैं कि अप्सराओं की भूमिका बालकों या किशोरों से करायी जानी चाहिए, स्त्रियों से नहीं। परन्तु जो लोग कैशिकी वृत्ति को मानते हैं, वे अप्सराओं और देवियों की भूमिका में स्त्रियों से अभिनय कराते हैं। वे लोग कहते हैं कि स्त्रियों का अभिनय स्त्रियां ही करें, यही स्वाभाविक है, परंतु कोहलीय लोग लड़कों को ही स्त्री की भूमिका में उतारते हैं। उनका कहना है कि रंग-भूमि में स्त्रियों के अभिनय करने से अधर्म की वृद्धि होती है और धर्म का ह्रास होता है।

—यह बात कुछ समझ में नहीं आयी।

—कैसे समझेंगे महाराज! आप लोग तो वीतराग हैं। जब स्त्रियां सजधज कर रंगभूमि पर उतरती हैं, तो साधारण पुरुषों में उनके प्रति आकर्षण पैदा हो जाता है। फिर स्त्री-पुरुष का मिलन होता और बच्चे पैदा होते हैं जो वर्णसंकर होते हैं। उससे समाज नष्ट होता है। स्त्री और पुरुष का मिलन होगा तो बच्चे पैदा होंगे हीं।

—बच्चे पैदा होंगे, कैसे ?

—स्त्री-पुरुष के मिलन से बच्चे तो पैदा होंगे ही महाराज! यही तो प्रकृति का नियम है। इसलिए तो ऋषियों ने विवाह के नियम चलाये हैं। विवाह से जो बच्चे पैदा होते

हैं वे धर्मसंगत होते हैं, उनसे समाज को बल मिलता है और जो बच्चे बिना विवाह के उत्पन्न होते हैं वे वर्णसंकर होते हैं और अधार्मिक होते हैं। कोहलीय लोग मानते हैं कि समाज की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि स्त्रियों की भूमिका में स्त्रियां न उतारी जाएं, बालकों से ही काम चला लिया जाये। इन बालकों को वे लोग बहुत शिक्षा देते हैं। उन्हें भ्रूकुंश कहा जाता है।

— भ्रूंकुश का क्या मतलब ?

— अब सारी बातें तो मैं भी नहीं बता सकता, गंवार आदमी हूं। मगर एक बार मैंने एक भ्रूकुंश से पूछा था कि तुम लोगों को ऐसा नाम क्यों दिया गया ?

— क्या बताया उसने ?

— उसने बताया कि स्त्रियों से भ्रू-वर्जना और आँखों का अभिनय सहज और स्वाभाविक होता है। उनकी आँखों की बनावट ही कुछ ऐसी होती है। पुरुष वैसा नहीं कर पाता। बहुत शिक्षा लेने के बाद पुरुषों में आंखों और भ्रूओं के अभिनय की योग्यता आती है। इन लोगों को भ्रूओं का अभिनय बड़े परिश्रम से सीखना पड़ता है। इसलिए उनको भ्रूंकुश कहते हैं। बिना मेहनत किये कोई कला नहीं आती है महाराज !

— तो ये लोग स्त्रियों का-सा अभिनय कर लेते हैं ? आश्चर्य है।

— कर तो लेते ही हैं महाराज, पर उनकी वाणी उतनी मीठी नहीं होती। भारती-वृत्ति में तो वाणी का ही महत्व है। ००

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥
न तज्ज्ञानं, न तच्छिल्पं, न सा विद्या, न सा कला।
नासौ योगो, न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥

यह नाट्य धर्मप्रद है, यशःप्रद है, आयुवर्द्धक है, हितकारी है और बुद्धि बढ़ाने वाला है। इसलिए लोक को उपदेश देने वाला होगा।
ऐसा कोई ज्ञान, या शिल्प (कारीगरी), विद्या, कला, योग एवं कर्म नहीं है जो इस नाट्य में नहीं दिखायी पड़ता हो।
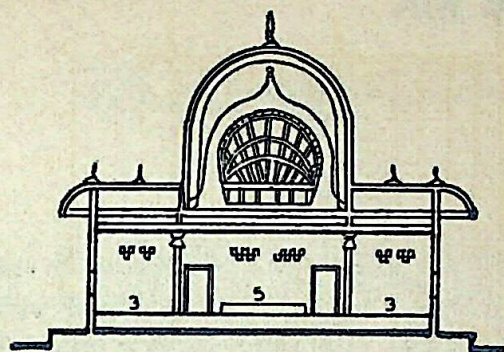
SECTION AA
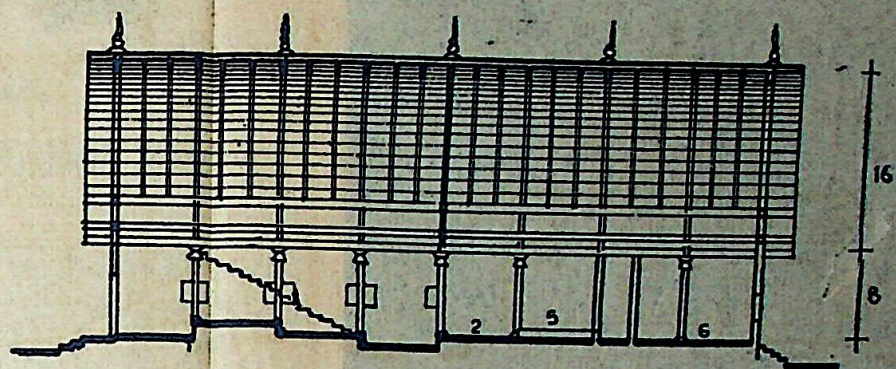
SECTION BB

1 PREKṢĀ-GṚHA
2 RANG-PITHA
3 MATTA-VĀRAṆI
4 RANG-ŚIRṢA
5 VEDIKA
6 NEPATHYA
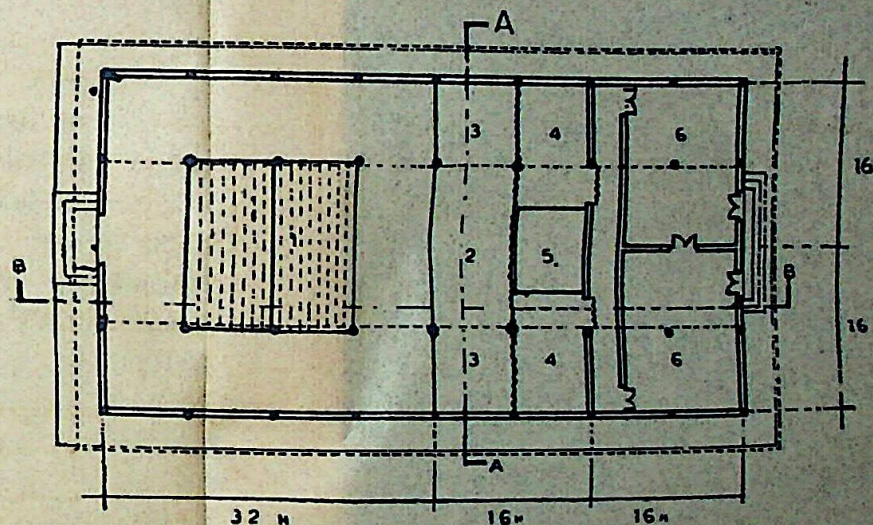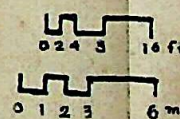
FIG. 3 - VIKṚṢTA MADHYA TYPE THEATRE

PLAN

1 Hasta = 1'-6". = 0-45 mt

विकृष्ट मध्य रङ्गमंच

भरत की रङ्गशाला

सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण एवम् कालसंदर्भ

□ श्री गोवर्धन पांचाल

● द्वितीय अध्याय को जब नाट्यशास्त्र के अन्य प्रासंगिक अध्यायों के साथ पढ़ा जाता है, तो वह ऐसे विविध विषयों की सूचनाओं के द्वार खोल देता है जिनकी जानकारी पहली बार मिलती है अथवा जिनके बारे में वृहत् विवरण इसके पूर्व पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ है। यद्यपि अनेक पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती धार्मिक और शिल्पशास्त्र के ग्रन्थ नृत्त और नाट्य का उल्लेख करते पाये गये हैं, तथापि उनमें से बहुत कम ही उन नाट्यगृहों की चर्चा करते मिलते हैं, जिनमें इन्हें प्रस्तुत किया जाता रहा है, एवम् इनमें भी नगण्य मात्र ही ऐसे हैं जो उनके बारे में सार्थक विवरण देते हैं। बौद्ध जातकों में अखाड़े (एरीना) की तरह के मध्यस्थित रंगस्थली के मंडपों का उल्लेख मिलता है। ऐसा लगता है कि इन प्रेक्षागृहों का उद्देश्य मुख्य रूप से जनसमुदाय के मनोरंजन के लिये किया जाता था, जहाँ बैठने के लिये आसन-समूह रंगमंच के चारों ओर गोलाकार रूप में पंक्तिबद्ध ऊपर की ओर उठते हुए बनाये जाते थे, जिन आसन समूहों का प्रयोग बिना जांति-पांति के विचार या श्रेणी-भेद के किया जाता था[1]। ये रंगभूमि कुश्ती के दंगलों के लिये, धनुर्विद्या में निपुणता-प्रदर्शन के लिये अथवा संगीत प्रतियोगिताओं के निमित्त बनी थीं। दर्शक कभी-कभी जोश में मदमत्त हो उठते थे। वे जोर से तालियाँ बजाते थे, हाथ हिलाते थे, पैरों को पीटते थे, चिल्लाते थे, और कभी-कभी तो इतने मतवाले हो उठते थे कि राजा[2] के इशारे पर प्रतियोगियों को ही मार डालते थे। जातक नाटकों (नाटकानि)[3] अभिनेताओं और नर्तकों (नटकत्तका)[4] का भी जिक्र करते हैं। कुल-परम्पराओं से चले आते हुए अभिनेताओं (नाटककुलम)[5] तालवाद्यवादकों (भेरिवादकुल)[6] संगीतज्ञों (गांधब्बकुल)[7] आदि के संगठन भी होते थे।

+इस लेख में मूल पाठ का उल्लेख 'नाट्शास्त्र'—डॉ० मनमोहन घोष द्वारा अंग्रेजी अनुवाद से ही हुआ है (यदि अन्य निर्देश न दिया गया हो)

1. "पी बुद्धिस्ट इण्डिया"—रतिलाल मेहता—पृ० ३५५-बम्बई (१९३९): चक्कातिचिक्के' "मंचातिमंचे"

2. वही, पृ० ११५-१६,
3. वही, पृ० ३५५, ३०६,
4. वही, पृ० ३१५,
5. वही, पृ० २५६,
6. वही, पृ० २५६,
7. वही, पृ० २५९

जैन ग्रन्थ भी नाट्यगृहों का उल्लेख करते हैं—"पेच्छाघर मंडव" (प्रेक्षागृह मंडप) रायपसेणिया सुत्त उस धार्मिक नाट्यगृह का विस्तृत विवरण देते हैं जिसमें जनसमुदाय के मनोरंजन के लिये निर्मित 'अक्खाडग' (मंच) बीच में होता था। इसमें वास्तुशिल्प सम्बन्धी कुछ विवरण भी प्राप्त होता है. यथा—शालभञ्जिका, व्याल आदि। तथापि धार्मिक प्रकृति का विवरण होने के कारण, हाड़मांस का रंगमंच हमें नहीं प्राप्त हो पाता।

नयी दिल्ली में भारत सरकार के पुरातत्व विभाग की शताब्दी के समय एक प्रदर्शनी का आयोजन किया गया था जिसमें नागार्जुन कोंडा की खुदाई का एक चित्र भी प्रदर्शित था जो मुझे नाट्यगृह जैसा प्रतीत हुआ। बाद में इसे नाट्यगृह ही बताया गया। यह नाट्यगृह चौकोर है और उसका फर्श नीचा है। इसके सभी तरफ पंक्तिबद्ध ऊपर उठते हुए बैठने के स्थान बने हुए हैं और एक तरफ मंच की सतह पर खुला हुआ है। इसके उल्टी तरफ सतह से ऊपर की ओर उठती हुई सीढ़ियां तराशी गयी गयी हैं। यह नाट्यगृह ऊपर लिखे गये जातकों के रंगमंच से कुछ मिलता-जुलता लगता है।

जब हम भरत के नाट्यशास्त्र[1] में वर्णित तीन प्रकार के नाट्यगृहों के विषय में पढ़ते हैं तो यह तस्वीर अचानक बदल जाती है। इन नाट्यगृहों के बारे में पढ़ते हुए हम अपने को एक दृढ़ धरातल पर खड़े पाते हैं। विशेषकर जब हम उनके विकृष्ट मध्य नाट्यगृहों[2] के बारे में पढ़ते हैं तो लगता है कि पहली बार हम सजीव हाड़-माँस के रंगमंच से मुखातिब हैं। अचानक यह रंगमंच अपनी सम्पूर्ण गरिमा के साथ हमारे सामने जीवन्त हो उठता है, संगीत और प्रभावपूर्ण वाग्ध्वनि की प्रतिध्वनियाँ सुनाई पड़ने लगती हैं, नर्तक-नर्तकियों के पैरों के चाप वातावरण को गुंजायमान कर देते हैं, वीणा तथा बांसुरी की मधुर ध्वनियां और तालवाद्यों के विविध ताल हवा को जैसे भर देते हैं। यहाँ हमें दिखायी देने लगता है जैसे मिट्टी या धातु के बने प्रदीपों के प्रकाश देवी-देवताओं, राजा-रानियों, राजदरबारियों, उदार व्यापारियों और जन-साधारण के चेहरों को प्रकाशमान कर रहे हों—सभी कुछ जैसे एक ही रंगशाला में हमारे मानस-चक्षुओं के सामने घटित हो रहा हो।

हमारे सामने एक नहीं, तीन भिन्न-भिन्न प्रकार के नाट्यगृहों का विवरण है। विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। अन्तिम प्रकार (त्र्यस्र) का स्वरूप ऐसा है जो किसी भी प्रकार

---

(1) यहाँ मूलपाठ का उद्धरण 'नाट्यशास्त्र' (मनमोहन घोष के अंग्रेजी अनुवाद, प्रथम संस्करण) से है। (2) विकृष्ट मध्य नाट्यगृह के विवरण और विवेचन के लिए देखें लेखक के "कुत्तंपलम् एण्ड इट्स लिंक्स विथ भरताज स्टेज" नेशनल सेन्टर फार द परफार्मिंग आर्ट्स की पत्रिका, ग्रन्थ-६, संख्या-१, १९७७, पृ० २९-३०, और संगीत नाटक अकादमी की पत्रिका "संगीत नाटक संख्या ३४, १९७४:' 'भरताज स्टेज इन ऐक्शन"।

के भवन के लिगे आमतौर पर नहीं दिखायी पड़ता और केवल उन विशेष नाट्यप्रयोगों के लिये ही उपयुक्त समझा गया है जिनमें केवल एक या दो पात्र ही हों। इस तरह यह उस जानकारी की ओर इंगित करता है जिसमें विशेष प्रकार के नाटक के लिये विशेष प्रकार के नाट्यगृह की योजना की जाती हो और उस विशेष जानकारी का भी परिचय देता है जिसमें रंगमंच के व्यावहारिक पक्ष का विशेष ध्यान रखा जाता हो।

नाट्यशास्त्र में वास्तु-शिल्प सम्बन्धी अनेक तत्वों से हमारा साक्षात्कार होता है जैसे, मत्तवारणी, शालभञ्जिका, व्याल, द्विभूमि, शैलगुहाकार, गवाक्ष, वातायन आदि। पहली बार हमें मत्तवारणी जैसा शब्द सुनायी पड़ता है जिसका अर्थ अनेक प्राचीन व आधुनिक विद्वानों को पेशोपेश में डाल चुका है और जिसका उपयोग बाद में और वृद्धि पाता है तथा देवताओं के आवासगृहों में, राज-प्रासादों में और धनिकों के भवनों में जिसे स्थान मिलता है।

इन तीन प्रकार की नाट्यशालाओं के लिये दिये गये मापों का भी अपना महत्व है। भरतमुनि द्वारा माप के लिये प्रयुक्त १०८, ६४, और ३२ हस्त के अङ्क प्राचीन एवं मध्ययुगीन लेखकों द्वारा भी काम में लिये गये हैं और आज भी उनका प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ, एक जैन मूलपाठ में चक्रवर्ती राजाओं, वासुदेवों, मांडलिकों और जनसाधारण के 'पासादों' तथा 'भवनों' का वर्णन आता है। देवाताओं के लिये 'प्रासाद' और राजाओं के लिये 'भवन' होते थे। इनके लिये क्रमशः १०८, ६४, ३२ और १६ हस्तों का माप दिया हुआ है। प्रासाद की ऊँचाई इसकी चौड़ाई से दुगुनी होती थी, जबकि भवन की ऊँचाई इसकी चौड़ाई से कुछ कम होती थी[1]। हल्लीसक[2] नृत्य में नर्तकों की संख्या ३२, १६ या ८ होती थी। रायपसेणिया सुत्त १०८ नर्तक और १०८ दिव्य नर्तकियों का उल्लेख करते हैं जो महावीर के आगे नृत्य करते थे। वात्स्यायन महिलाओं द्वारा दक्षता प्राप्त करने के लिये ६४ कलाओं की चर्चा करते हैं और इनकी जानकारी भरत मुनि को भी थी। आज भी महन्तों को श्री श्री १०८ महामंडलेश्वर आदि से विभूषित किया जाता है। इस प्रकार यह माप अथवा १०८ की संख्या दैवीरूप और विशालता की द्योतक थी और इनका प्रयोग देवताओं के लिये होता था। इसीलिये देवताओं की नाट्यशाला का माप १०८ हस्त होता था। राजाओं और जनसाधारण के लिये नाट्यगृह का माप क्रमशः ६४ हस्त और ३२ हस्त का उचित माना गया था। भरत के अनुसार ६४ अथवा ३२ हस्त का माप नाट्यगृह के श्रवण गुण (acoustics) और दृष्टि रेखा (Sightline) के अनुसार भी उपयुक्त ठहरता था। जर्जर की लम्बाई नाट्यशास्त्र के अनुसार १०८ या ३२ अंगुल थी। और इसी पाठ के अनुसार देवियों और रानियों के कंठहारों में ३२, ६४,

---

(1) भगवती सूत्र-टीका ५-७। (2) भास बालचरितम् में हल्लीसक का उल्लेख करते हैं। हरिवंश और बाद के पुराणों में भी उल्लेख मिलता है।

या १०८ मोतियों की लड़ियां होती थीं। और अंगहारों की संख्या ३२ और करणों की संख्या १०८ थी।

नाट्यमण्डप की स्थापनाविधि निश्चय ही अद्भुत है, यद्यपि उसे तर्कसंगत रूप में एक साथ नहीं दिया गया है और इसलिये उसे एक साथ जोड़ना पड़ता है। यदि ध्यानपूर्वक पाठ का
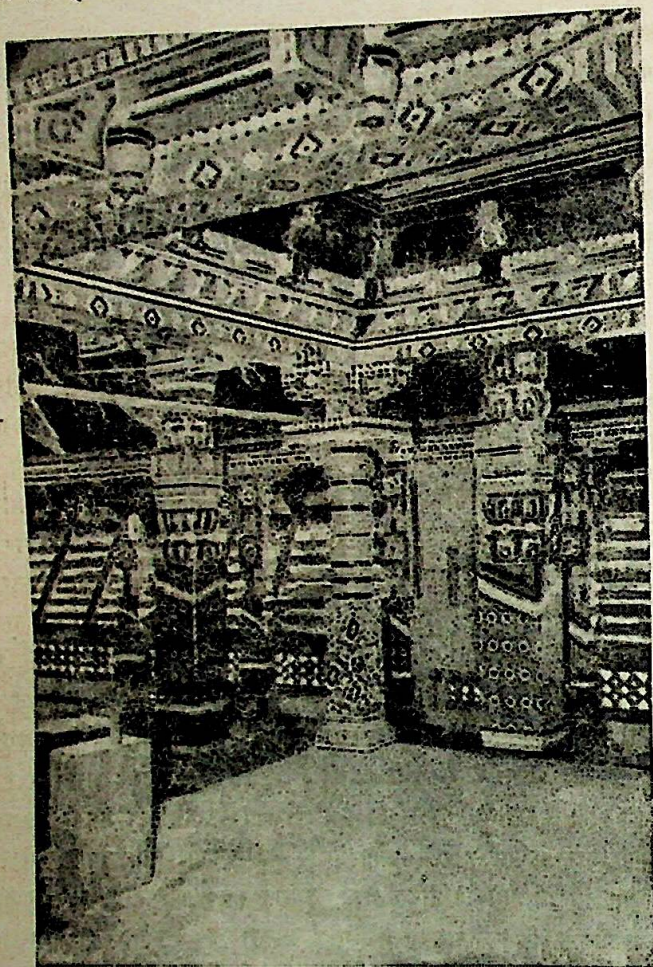
रङ्गमंडप का शृङ्गार (केरल)

अनुसरण किया जाये तो आपको ब्राह्मणों की मन्त्रध्वनि सुनायी पड़ेगी, जब नाट्यशाला के लिये भूमि का चयन किया जाता है, अशुद्धियां दूर की जाती हैं और मूंज घास के सूत्र को फैलाकर माप किया जाता है। फिर सुनाई पड़ती है नींव के लिये खुदाई की आवाज, करनी की खनक और मजदूरों के पैरों की गम्भीर पदचाप। साथ ही

सुनाई पड़ती है काठ को चीरने की ध्वनि और खम्भों, शहतीरों और कड़ियों के लिये इसे काटने, तराशने और चमकाने की आवाजें। और हम देखते हैं कि कारीगर मंडप को सजाने के लिये शालभञ्जिकाओं, व्यालों, गवाक्षों, वातायनों और वेदिकाओं को सुन्दर पच्चीकारी और चित्रकारी से स्वरूप दे रहे हैं। स्तम्भों के निर्माण एवं उन्हें खड़े करने के हर पग पर हमें और अधिक मंत्रध्वनि सुनायी पड़ती है तथा ब्राह्मणों को रत्नों, गायों और कपड़ों की भारी दक्षिणा मिलती दिखायी पड़ती है, राजा उन्हें बड़े-बड़े भोजों में आमंत्रित करता है।

हम देखते हैं कि राजमिस्त्री दीवारों पर "भित्तीलेप"—पहले लेप—के लिए विविध वस्तुएं मिला रहे हैं। फिर अन्तिम लेप—"सुधाकर्म"—के लिये कोमल, मक्खन जैसा चिकना और चमकता श्वेत लेप परिश्रम और अत्यन्त सावधानी से किया जा रहा है, जिसे भित्तीलेप की खुरदरी और मोटी सतह पर लगाया जाता है। यह सुधाकर्म सभी सतहों पर, चाहे वे ईंटों से बनी हो अथवा लकड़ी से, लगाया जाता था ताकि उनमें परिष्कृति और रंगत पैदा हो सके। अण्डे के खोल जैसे पतले इस लेप से घसे और चमकाये हुए सुधाकर्म पर ही चित्रकारी की जाती थी। इस सुधाकर्म—कई परतों में किए गये पतले लेप—से रङ्गपीठ पर लकड़ी और ईंटों वाले काम को एकवर्णी और निष्प्रभ आभा मिलती थी जिसके कारण दीपक के धीमे प्रकाश में भी पात्रों के रंगबिरंगे परिधान निखर उठते थे। रंगपीठ की कुरसी (Plinth) काली मिट्टी से भर दी जाती थी और उसकी सतह भी समतल, चिकनी और धातु से बने दर्पण (आदर्श) जैसी चमकदार बना दी जाती थी, और शायद काले रंग की भी[1]।

इस रंगमञ्च पर पवित्रता और लौकिकता का मिलन होता था। यहाँ ब्राह्मणों द्वारा प्राचीन ग्रंथों से पवित्र मन्त्र गम्भीर स्वर में नाट्यगृह के उद्घाटन के अवसर पर गुंजरित किये जाते थे और यहाँ दीवारों पर पुरुषों तथा स्त्रियों के रसिक भावों वाले चित्र लताबन्धों में गुंथे होते थे, जिस तरह एक लता दूसरी लता से गुंथ जाती है। रङ्ग पर देवताओं और मनुष्यों की गौरवगाथा का वर्णन होता था, विविध स्वरूपों वाली जीवन-गाथा का और मृत्यु का भी—दुर्योधन की मृत्यु (उरुभङ्ग), दशरथ की मृत्यु (प्रतिमानाटक), अनेक राक्षसों की मृत्यु (बालचरित्र) बीमारियों, घावों, सर्पदंश, विषपान आदि से मृत्यु (ना० शा० अ० ७, श्लोक ८५-९० और अ० २६, श्लोक १००-७), क्योंकि यह रङ्गमञ्च था सम्पूर्ण जीवन की नकल की तौर पर छोटे से रूप में दिखलाने का मञ्च (त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम्—ना० शा० अ० १, श्लोक १०६, बड़ौदा)।

---

(1) इस तरह की काली सतह पात्रों को विषमता के कारण उभर आने में सहायता करती थी। इस काली सतह का उल्लेख विनय ग्रन्थ में भी मिलता है। मैंने इस तरह का खूब चमकता काला फर्श केरल के पदमनाभपुरम् राजप्रासाद में देखा है, जहाँ एक धंसा हुआ, काली पालिश किया हुआ, चमकते फर्श वाला नाट्यगृह भी है।

यह रङ्गमंच मनोरंजन प्रदान करने के लिये था। यहीं पर धर्म, अर्थ, काम के निर्देश दिये जाते थे, और यहीं पर यश, उपदेश, शास्त्रों और शिल्पों का ज्ञान भी दिया जाता था, सांसारिक कर्मों का सांसारिक ज्ञान—लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् (ना०शा० अ० १, श्लोक १४, वड़ौदा)।

यहीं पर सभी वर्णों का मिलन होता था—ज्ञानी ब्राह्मण, प्रतापी क्षत्रिय, धनी वैश्य और दीन शूद्र—सभी यहाँ नाटकों को देखने और सुनने इकट्ठे होते थे, जिनमें शानदार पद्यमय गद्य और अतीव सौन्दर्यमयी कविता होती थी, अभिनेता, अभिनेत्रियों द्वारा गाये जाने वाले और कुतप (से सुनायी देते) गीत होते थे, सूक्ष्मता पूर्वक समझने वाले सहृदयों और समस्त कलाओं के ज्ञाताओं के योग्य अत्यन्त सुरुचिपूर्ण भावप्रदर्शन कार्यव्यापार और मुद्रा-प्रदर्शन होते थे।

राजा यह नाट्यशाला अपने राजप्रासाद के अहाते में वनवाता था (ना० शा० अ० ३४, श्लोक ७८-७९) ताकि वह सम्पूर्ण महिला दल द्वारा खेले गये इन नाटकों को अपनी रानियों, राजकुमारों व राजकुमारियों और राजदरवारियों के साथ देख-सुन सके। यह वह रङ्गमंच था जो उसकी दरवारी संस्कृति के अनुकूल, उसके वैभव, उसकी सत्ता और उसकी गरिमा को प्रतिविम्वित करता था। लेकिन उसके दरवारियों, धनी व्यापारियों एवं सैनिक अधिकारियों द्वारा भी अपने मनोरंजन और ज्ञानवर्द्धन के लिये नाट्यगृह वनवाये जाते थे (ना० शा० अ० ३५, श्लोक ३७)। ये नाट्यगृह मन्दिरों में भी वनवाये जाते थे और किसी रङ्गप्रयोग को निःशुल्क दिखलाना एक महा पुण्य का कार्य समझा जाता था (महाफल—ना० शा० अ० ३७, श्लोक ८०)।

जब दर्शकमण्डली किसी रङ्गप्रयोग से बहुत खुश होती थी तो ये रङ्गमंडप "साधु-साधु" की आवाज से या तुमुल हर्षध्वनि से अथवा जोरदार करतल ध्वनि से गुंजरित हो उठते थे (ना० शा० अ० २७, श्लोक ८-११)। लेकिन अपने प्रतिद्वन्द्वी की प्रस्तुति को नष्ट करने के उद्देश्य से अथवा नाटक के जम नहीं पाने पर भीड़ गोबड़, मिट्टी के ढेले, घास तथा पत्थर भी कलाकारों पर फेंकते थे और चीख-पुकार, चिल्लाहट या शोरशराबे से तालियाँ बजाकर भी अपना रोष प्रकट करते थे (ना० शा० अ० २७, श्लोक २१-२२)।

जैसा हमने अभी देखा, विकृष्ट मध्य (आयताकार मध्यम आकारवाला) नाट्यगृह न केवल राजाओं के लिये बल्कि जनसाधारण के लिये भी बनाया जाता था (ना० शा० अ० ३३, श्लोक २२६ और अ० ३६, श्लोक ८०)। बाद वाले नाट्यगृह में पुरुष और महिलाएँ रंगशाला में भर जाते थे और दर्शक मण्डली का मिजाज देखकर उनकी अभिरुचि को कायम रखनेवाला संगीत ही बजाया जाता था (ना० शा० अ० ३३, श्लोक २२६)।

इन रंगशालाओं में व्यावसायिक रङ्गदल विजय 'पताका' को जीतने के लिए एक दूसरे से स्पर्धा करते थे (ना० शा० अ० २७, श्लोक ७७-८०)। 'प्राश्निकों' (निर्णायकों) द्वारा विजेताओं को यह पुरस्कारस्वरूप दिया जाता था (ना० शा० अ० ३७, श्लोक ६२-६४)। ये (प्राश्निक) रङ्गपीठ से बारह हस्त की दूरी पर, ताकि न ज्यादा दूर रहें और न बहुत पास, बैठते थे जिससे वे कार्यव्यापार को भली प्रकार देख सकें और साथ ही संगीत और संवाद भी बिना उनकी सूक्ष्मता को खोये सुन सकें (ना० शा० अ० २७, श्लोक ७४)।

रङ्गमञ्च के इतिहास में पहली बार हमें ऐसी रङ्गशाला के दर्शन होते हैं जहाँ ध्वनि और दृश्य, दोनों को, पूरा महत्व दिया गया है। ध्वानिकता और अच्छी दृष्टि-रेखा को बहुत ही सचेतन प्रयास से प्राप्त किया जाता था, इस कठिन स्वीकारोक्ति के साथ कि जिस रङ्गशाला में ये उपयुक्त नहीं हैं, वे रङ्गमञ्च के लिये बेकार ही हैं। इन आवश्यक दोहरे गुणों को प्राप्त करने हेतु अनेक तत्वों को दष्टि में रखा जाता था— रङ्गशाला का उचित माप, उसका आकार, दीवारों की संरचना, उनमें व्यवहृत गारे, लकड़ी, ईंटे, दरारें और बहिर्विष्ट हिस्से, उन पर किया गया पच्चीकारी का काम— इन सभी का ध्वनि की उत्कृष्टता में अवश्य ही स्थान रहता होगा। नाट्यशाला का शैलगुहाकार (पर्वत गुफानुमा) आकार अवश्य ही इसी कारण से चुना गया होगा, यद्यपि ऐतिहासिक आवश्यकताओं का भी इस चयन में हिस्सा रहा होगा।

वास्तु शिल्पीय दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है कि हमें न केवल तीन विभिन्न प्रकार के नाट्यगृह मिलते हैं और उन्हें बनाने, अलंकृत करने और अन्तिम रूप देने की विधि अत्यन्त जीवन्त रूप में संस्कृत, पाली और प्राकृत के विशाल साहित्य भण्डार में पहली बार मिलती है, बल्कि पहली ही बार हमें बोध होता है कि रङ्गशाला निर्माण की वास्तु-कला दूसरे अन्य भवनों की वास्तु-कला से भिन्न होनी चाहिए। जब भरत नाट्यगृह में दरवाजों को विषम स्थिति में खड़े करने, खिड़कियों को इतनी छोटी बनाने कि केवल मन्द वायु ही उनमें प्रवेश कर सके और रंगशाला का माप न बहुत बड़ा और न बहुत छोटा रखने तथा अन्य अनेक विवरणों को देने की बात करते हैं, तो लगता है कि उन्हें रङ्गमंच का न केवल सैद्धान्तिक पक्ष ही ज्ञात था, बल्कि उसके व्यावहारिक और वैज्ञानिक पक्ष के भी वे पूरे ज्ञाता थे।

पहली बार ही हमें भरत से नाट्यगृह के तीन प्रमुख अंगों का निर्देश मिलता है— (१) प्रेक्षागार (प्रेक्षाणां निवेशनम्—ना०शा० अ० २, श्लोक ९), (२) मंच (रङ्गम्—ना०शा० अ० २, श्लोक २, बड़ौदा) और (३) नेपथ्य (नेपथ्यगृहम्—ना०शा० अ० २, श्लोक ३५, बड़ौदा)। उन्होंने साफ-साफ बतलाया है कि ये तीनों आधार-

(१) यहाँ सभी संस्कृत उद्धरण नाट्यशास्त्र, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज, बड़ौदा से लिये गये हैं।

भूत भाग कहाँ-कहाँ अवस्थित होने चाहिये। प्रेक्षागार पूर्व की ओर, नेपथ्य पश्चिम की ओर तथा रङ्गम् उनके मध्य में स्थित हो। कलाकारों और वाद्यवादकों का मुंह पूव की ओर होना चाहिये।

रंगमंच के इतिहास में पहली ही बार हमें मंच सम्बन्धी निर्दिष्ट पारिभाषिक शब्दावली मिलती है। मंच की सतह के लिये वे रङ्गशिरः (ना०शा० अ० २, श्लोक ७५, बड़ौदा) शब्द का प्रयोग करते हैं, मंच के पूरे क्षेत्र के लिये रङ्गमण्डप (ना०शा० अ० २, श्लोक ६५, बड़ौदा) जिसमें रङ्ग के सभी भाग शामिल हैं—रङ्गपीठ, मत्तवारणी, रङ्गशीर्ष (वेदिका के साथ) और नेपथ्य भी।

वे रंगशाला के प्रत्येक भाग को निश्चित शब्दावली तो देते ही हैं, अभिनेताओं और सूत्रधारों की दृष्टि से भी रङ्ग की स्पष्ट जानकारी प्रदान करते हैं। निःसन्देह इसी दृष्टि से रङ्ग को अनेक क्षेत्रों में बांट देते हैं और प्रत्येक क्षेत्र का अलग नामकरण करते हैं, जैसे—मुख्य अभिनय स्थल को रङ्गपीठ (ना०शा० अ० २, श्लोक ६४, बड़ौदा); मुख्य स्थल के दोनों ओर दो पूरक स्थल को 'मत्तवारणी' (ना०शा० अ० २, श्लोक ६३, बड़ौदा), पीछे की ओर के दूसरे अभिनय स्थल को रङ्गशीर्ष (ना०शा० अ० २, श्लोक ३४, बड़ौदा) और रङ्गपीठ के पीछे के उन्नत स्थल को 'वेदिका' (ना०शा० अ० २, ९९-१००, बड़ौदा)। रंगक्षेत्र का यह सीमांकन आधुनिक मंच की तरह मनमाने ढंग से नहीं थोपा गया है, बल्कि वास्तुशिल्प की दृष्टि से मत्तवारणी पर स्तम्भों की आवश्यकता का ही परिणाम है, जो इनके (मत्तवारणी के) प्रत्येक कोने में एक-एक होने चाहिये ताकि विभिन्न स्थल स्वाभाविक रूप से अलग दिखायी दें। रंग के इन स्वाभाविक विभाजनों का लाभ उठाया जाता था और प्रत्येक विभाजन अलग-अलग स्थलों (कक्ष्या—ना०शा० अ० १४) को दर्शाता था, जिनकी संस्कृत नाटकों में भरमार है। संस्कृत नाटकों में कार्यव्यापार कई बार क्रमशः, तो कई बार एक साथ ही, एक समय में दो, तीन या चार स्थलों पर चलता है और इसीलिये इन विभिन्न स्थलों को मंच के विभिन्न भागों में दिखलाना कलाकारों, सूत्रधारों और दर्शकों की दृष्टि में बहुत सहायक होता था। नाट्यकारों को भी इससे यह स्वतन्त्रता रहती थी कि वे विभिन्न कार्यव्यापारों को विभिन्न स्थलों पर एक साथ ही रख सकें और नाटक रङ्ग पर अबाधगति से चल सके। किसी प्रकार के दृश्यबंध का प्रयोग नहीं किया जाता था यद्यपि अत्यन्त प्रयोजनीय वस्तुएं यथा—प्रदीप, पलंग, सिंहासन आदि जरूर लगाये जाते थे। ये वस्तुएं तथा अभिनेताओं के शब्द ही परिस्थिति, काल और स्थान का आभास देते थे। दर्शक अपनी कल्पनाशीलता से ही बाकी के रंग भर लेते थे।

दूसरे अध्याय से एकत्र की गयी अन्य सांस्कृतिक बातें भी न केवल नाट्यशास्त्र के लेखन के काल को आंकने में उपयोगी हैं, बल्कि दिलचस्प भी हैं, क्योंकि वे इस बात की भी झलक देती हैं कि उस समय का सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण कैसा था।

इस १०५ श्लोकों वाले अध्याय में रङ्गशाला बनाने के हर महत्वपूर्ण स्थल पर ब्राह्मणों का उल्लेख हुआ है। पहले ८५ श्लोक नाट्यगृहों में प्रमुख आकार—विकृष्ट मध्य (आयताकार) की ही चर्चा है और स्वाभाविक रूप में इस अंश में ब्राह्मणों का ११ बार उल्लेख हुआ है। किन्तु यदि हम दूसरे दो प्रकार के नाट्यगृहों—चतुरस्र (चोकोर) और त्र्यस्र (तिकोना)—की भी बात लें जिनके स्थापत्य की विधि भी प्रथम प्रकार ही के समान थी और इसीलिये उसी प्रकार के समारोह ब्राह्मणों द्वारा सम्पादित होते, तो कम से कम ३३ बार उनका उल्लेख होता। तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में उनकी महत्ता का इससे आभास मिलता है और इसका भी कि वे कितने ऊँचे सम्मान के अधिकारी थे।

आगे बढ़ें तो हम पाते हैं कि राजा का उल्लेख चार बार आया है। उनके नाट्यगृह की स्थापना के दौरान प्रमुख आयोजनों में उन्हें उपस्थित रहना होता था। महत्वपूर्ण बात यह है कि उनका उल्लेख सिर्फ 'नृप', नरेन्द्र', 'राजा' और 'स्वामी' शब्दों से हुआ है, न कि सामान्यतया होनेवाले अतिरंजित शब्दों, जैसे चक्रवर्ती अधिराजा, सम्राट या ऐसे ही अन्य शब्दों से। इस बात से पता चलता है कि हो सकता है वे एक जनपद के राजनेता ही हों और उन्हें केवल 'राजा'[1] नाम से ही पुकारा जाता रहा हो।

हम यह भी देखते हैं कि शूद्रों को अभी तक तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखा जाता था जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र या पतंजलि के महाभाष्य में। अर्थशास्त्र में उन्हें शहरी सीमा के बाहर आवास रखना पड़ता था और उन्हें शायद ही कोई अधिकार प्राप्त थे। उनका कर्त्तव्य ही था कि वे ऊँची जातिवालों की सेवा करें और उनकी स्थिति गुलामों से बेहतर प्रतीत नहीं होती।

भरत के रंगमंच में वे अन्य ऊँची जातियों के सहवर्ती होते थे। नाट्यगृह के प्रत्येक कोने में स्थापित किये जानेवाले चार प्रमुख स्तम्भों में प्रत्येक का नामकरण प्रत्येक जाति के नाम पर होता था तथा चौथा स्तम्भ शूद्र के नाम पर स्थापित होता था। लेकिन यहाँ भी हम पाते हैं कि शूद्र स्तम्भ सबसे अन्त में खड़ा किया जाता था और दूसरे स्तम्भों की तुलना में इसके तल में मांगलिक दृष्टि से रखा जाने वाला पदार्थ लोहा होता था और ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों को इस अवसर पर खिलाये जाने वाला भोजन साधारण किस्म का (कृसरा) होता था। चढ़ाये जाने वाले पदार्थ का मूल्य सामाजिक अनुक्रम के अनुपात में घटता-बढ़ता था। इससे मालूम होता है कि जाति पर आधारित सामाजिक वर्गीकरण की जड़ें मजबूत थीं यद्यपि परवर्ती काल की कट्टरता अविद्यमान थी।

---

(1) 'दी एज आफ इम्पीरियल यूनिटी' (भारतीय विद्या भवन, पृ० ३३२, बम्बई) जातकों में भी राजाओं को सिर्फ 'राजन' नाम से सम्बोधित किया जाता था।" वे शायद चुने हुए राजा होते थे" - प्री बुद्धिस्ट इण्डिया-रतिलाल मेहता, पृ० १०२

शूद्र स्तम्भ की स्थापना स्वाभाविकतया उन्हें नाट्य-प्रदर्शन देखने का अधिकार भी देती थी। वस्तुतः यह पंचम वेद – नाट्यवेद—इसीलिये रचा भी गया कि शूद्र भी इसका रसास्वादन कर सकें और इससे शिक्षित भी हो सकें क्योंकि उन्हें पवित्र वेदों को सुनने या मंत्रोच्चार करने की मनाहीं थी। अतएव पंचम वेद सभी जातियों के आनन्द के लिये बना था वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम् (ना०शा०अ० १, श्लोक २ बड़ौदा)।

अभिनेताओं को भी सम्मान मिलता था। यही तथ्य कि भरतों (अभिनेताओं) में एक (अथवा उनके एक दल) ने नाट्यवेद लिखा, या संभवतः यही ठीक है कि उनका संकलन किया और स्वयं को मुनि शब्द से सम्बोधित किया, इस बात का साक्षी है कि समाज में उन्हें अच्छा स्थान प्राप्त था। भरत को विपुल आदर प्राप्त था क्योंकि 'पुण्यात्मा" मुनि उनके पास गये और उनसे श्रद्धापूर्वक विनय की कि वे उन्हें नाट्य-वेद की उत्पत्ति के विषय में बतलायें (ना०शा० १, श्लोक २-५)।

कौटिल्य के समय में यह स्थिति असंभव होती क्योंकि अर्थशास्त्र में वे उनका शूद्र[1] के समान ही वर्णन करते हैं और उन्हें जाति-बाहर की तरह पदावनत करते हैं तथा उनके आवास की व्यवस्था वेश्याओं और दूसरे इसी तरह के लोगों के साथ ही करते हैं।[2] ईसा पूर्व दूसरी शती में पतंजलि के समय में भी उनकी स्थिति इससे बेहतर नहीं हैं। वे भी अभिनेता को शूद्र के समान ही वर्णित करते हैं और हम पाते हैं कि उनके समय तक जाति व्यवस्था और कठोर हो गयी है।

लेकिन पाणिनि का अष्टाध्यायी (ईसा पूर्व ५वीं शती) एक दूसरी ही तस्वीर रखता है। अष्टाध्यायी पर काशिका टीका कहती है कि शिलालिन और कृशाश्व के नटसूत्र किसी तरह आम्नाय या छन्द ग्रन्थों से कम समादृत नहीं थे। 'शिलालि ब्राह्मण' नामक एक और ग्रन्थ था। अतः अभिनेता (शैलालह) पाणिनि के समय में आदर के पात्र थे। यह बहुत संभव है कि ये नटसूत्र बाद में नाट्यशास्त्र में समाविष्ट कर लिये गये हों। भरत भी अभिनेता के लिये शैलालक[3] शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार पाणिनि कौटिल्य या पतंजलि से अलग तरह का चित्र रखते हैं।

---

1. 'भास-ए स्टडी' ए०डी० पुसालकर, पृ० ३६०। 2. 'अर्थशास्त्र' आर०पी० कंगले द्वारा अनूदित पृ० ७९,१८३। 3. "पाणिनि कालीन भारत" डा० वा०श० अग्रवाल पृ० ३३०-३१।

"विशेषकर जब डा० अग्रवाल यह मन्तव्य रखते हैं कि भरत का नाट्यशास्त्र शिलालिन के ही नाट्यसिद्धान्त की उपज है (नाट्यशास्त्र नट को शैलालक नाम से वर्णित करता है और पाणिनि द्वारा व्यवहृत सदृश वैदिक शब्द है शैलानिनः नटः) जिसकी ऋग्वेद के चरण में ही उत्पत्ति है और जो आपस्तम्ब श्रोत सूत्र-अ० ४, श्लोक ४-७, में वर्णित ब्राह्मण ग्रन्थ 'शैलालि ब्राह्मण' के लेखक की ही कृति है।" एम० किस्टोफर बाइरस्की के 'कनसेप्ट आफ एन्सियेन्ट इण्डियन थियेटर' से उद्धृत। पृ० ३८, फुटनोट।

नाट्यशाला के स्थापन कार्य के आरम्भ करने के समय निम्नलिखित प्रकार के व्यक्तियों को दूर रखा जाता था—पाषण्ड, श्रमण, काषायवसना और विकलांग (ना०शा० अ०२, श्लोक ३७-३८, बड़ौदा)। कौटिल्य के समय तक हम पाते हैं कि पाषण्डों (एक धार्मिक सम्प्रदाय) के लिये ब्राह्मणों की नापसन्दगी गहरी जम चुकी थी क्योंकि वे उन्हें चाण्डाल के स्तर तक पदावनत कर देते हैं जो कि शूद्रों में भी निम्नतम हैं, और उन्हें श्मशान के बाद ही उनके साथ रहने का निर्देश देते हैं—पाषण्ड्चाण्डालानां श्मशान्ते वासः [1]।

ब्राह्मणों की श्रमणों के प्रति भी घृणा उतनी ही विषाक्त थी। एक ब्राह्मण गृहस्थ ने जब गौतम बुद्ध को आते देखा, तो चिल्ला उठा—"वहीं रुको, ओ रुंडमुंड ? वहीं रुको, ओ समणक ! वहीं रुको, ओ वसलक (बहिष्कृत)[2]। श्रमण शब्द सभी संन्यासियों के लिये व्यवहृत होता था, चाहे वे बौद्ध हों, या न हों[3], क्योंकि हम इस शब्द को पहले पहल बृहदारण्यक उपनिषद में पाते हैं, जहां इसका उपयोग जैन साधुओं[4] के लिये भी हुआ है।

कापायवसना (लाल कपड़े पहने हुए) बौद्ध धर्मावलम्बी संन्यासी थे और इससे इस बात का खुलासा होता है कि श्रमण जैन साधु थे जिन्हें भी सीधे-सीधे निकाल दिया जाता था। संन्यासियों का बहिष्कार किया जाता था क्योंकि उन्होंने संसार का परित्याग कर दिया था और नाट्यगृह, जो उनके लिए वर्जित था, को नींव डालने जैसे पवित्र समारोह के समय उनका आना अशुभ माना जाता था। हो सकता है उन्हें इसलिये भी पृथक रखा जाता था वे ब्राह्मणों से इतर पंथ के विश्वासी थे।

अध्याय दो में उल्लेख है कि क्षत्रिय और शूद्र स्तम्भों के नीचे क्रमशः ताम्र (तांबा) और अयस (लोहा) धातु रखी जाती थी (ना० शा० अ० २ श्लोक ५०-५३ बड़ौदा)। बौद्ध साहित्य में ताम्र शब्द 'लोहा' का पर्यायवाची था[5]। पाणिनि तांबे के लिये 'ताम्रायस' और लोहे के लिये 'कृष्णायस' शब्दों का उल्लेख करते हैं।[6]

दो भिन्न धातुओं के लिये दो निश्चित शब्दों का प्रयोग इस अध्याय को लिखे जाने के काल को जानने की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। मेगस्थनीज ने भी जो चन्द्रगुप्त मौर्य

---

1. "भास-ए स्टडी" पुसालकर पृ० ३५९।
2. "हिन्दू सिविलाइजेशन" आर० के० मुखर्जी, पृ० २६४
3. वही, पृ० ३१२
4. वही, पृ० २६३
5. 'विनयपिटक' हिन्दी अनुवाद : राहुल सांकृत्यायन, १९३२, पृ० ४४९
6. 'पाणिनि कालीन भारत' डॉ० वा० श० अ० अग्रवाल, पृ० ३३७

(ईसापूर्व ४ थी शती) के दरबार में राजदूत था, "तांबे और लोहे" का अलग-अलग उल्लेख किया है।[1]

अध्याय दो में विभिन्न पहलुओं के वर्णनों पर यहां विचार किये जाने पर जैसे, ब्राह्मणों की स्थिति, राजा की स्थिति, ताम्र और अयस के लिये भिन्न-भिन्न शब्दों के प्रयोग, दीवारों पर भित्ति चित्रों के लिये लेपन की पद्धति, रंगशाला के निर्माण के लिये वस्तुओं के व्यवहार, पच्चीकारी का काम, कुछ वास्तुशिल्प के पारिभाषिक शब्द जैसे गवाक्ष, शालभञ्जिका, व्याल आदि शब्दों का बहुत प्राचीन होना, कुछ स्थापत्य-शिल्प के नये शब्दों जैसे मत्तवारणी और षड्-दारुक आदि का प्रथम प्रयोग, तीन प्रकार के नाट्यगृहों का अचानक उद्भव—इन सभी सामाजिक और सांस्कृतिक सामग्रियों पर विचार करने पर दूसरे अध्याय के लेखन का जो काल प्राप्त होता है, वह कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पहले, लेकिन पाणिनि के कुछ बाद का ज्ञात होता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि भास नाट्यशास्त्र के पहले हुए थे क्योंकि कहा जाता है कि उन्होंने कुछ नियमों को तोड़ा था जैसे मंच पर मृत्यु या शयन दिखलाना आदि। यह मत कितना भ्रमपूर्ण है, यह नाट्यशास्त्र से ही देखा जा सकता है। भरत अध्याय ७, श्लोक ८५-८६ में और अध्याय २६ श्लोक १००-१०७ में मृत्यु के कारणों का और इसे मंच पर कैसे दिखलाना चाहिये, इसका वर्णन करते हैं। मंच पर शयन के बारे में भी उनका मत है कि कुछ निश्चित परिस्थितियों में इसे रङ्ग पर दिखलाया जा सकता है।

भरत राजप्रासाद की नाट्यशाला के विषय में अध्याय २ तथा अन्य अध्यायों में भी कहते है। भास भी राजप्रासाद की नाट्यशाला के विषय में प्रतिमानाटकम् के अंक २ में कहते हैं। उसी अंक में भास 'नाटकीया" शब्द का प्रयोग एक सर्व महिला नाट्यदल के लिये करते हैं जिसे प्रतिहारी राम के राज्याभिषेक के बाद एक उपयुक्त नाटक प्रस्तुत करने के लिये तैयार रहने को कहता है। भरत ने इस 'नाटकीया' शब्द को कई श्लोकों में व्यवहार किया है (ना० शा० अ० ३४, श्लोक ४८-५१, ७८-७९ तथा अ० ३५, श्लोक, १०१)। वे फिर राजप्रसाद से सम्बद्ध एक सर्व-महिला नाट्यदल का उल्लेख करते हैं (ना० शा० अ० ३५ श्लोक ४९, अ० ३७, श्लोक ५०८) और फिर भरत ने न केवल पटी/अपटी * शब्दों का मंच द्वारों पर लगे पर्दों के लिये उपयोग किया है (ना० शा० अ० ३१, श्लोक ४३५, ४३७) बल्कि उनके बारे में साफ निर्देश भी दिये हैं कि कैसे और किन परिस्थितियों में उनका व्यवहार किया जाना चाहिए (ना० शा० अ० ३२, श्लोक ४७०)। भास ने न केवल मंच द्वारों पर लगे पर्दों का अपने रङ्ग

1. 'दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी : भारतीय विद्या भवन, बम्बई, पृ० ६७

* लेखक के 'द कर्टेन इन क्लासिकल संस्कृत थियेटर्स लेख को देखें (संगीत नाटक अकादमी द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'संगीत नाटक', अंक २५ नई दिल्ली (१९७२)।

निर्देशों में उल्लेख किया है, बल्कि उनके नाट्य-प्रयोग के समय सम-परिस्थितियों में सम-प्रयोग की चर्चा भी की है।

भरत ने एक दूसरे पर्दे, यवनिका, का भी उल्लेख किया है जो रङ्गपीठ और रङ्गशीर्ष के बीच में होती थी। भास ने इस यवनिका का बहुत ही नाटकीय प्रयोग प्रतिमानाटकम् (अंक २) तथा उरुभङ्ग में किया है। यह यवनिका केवल रङ्गशीर्ष और रङ्गपीठ के बीच ही हो सकती थी, जैसा भरत ने कहा है, क्योंकि यही एकमात्र पर्दा था जिसे बगल की ओर खींचा जा सकता था (ना० शा० अ० ५, श्लोक १२-१५)।

इस प्रकार भास ने भी पर्दों के लिए उन्हीं शब्दों का उन्हीं रूपों में और उन्हीं स्थितियों में भी व्यवहार किया है, जैसा भरत ने किया है। वास्तव में चार प्रकार के अभिनय और नाटक के प्रस्तुतिकरण से सम्बन्धित बहुत-सी परम्पराओं को भास ने अपने नाटकों में निश्चित रूप में समाविष्ट किया है, जो इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि भरत भास के पहले हुए थे।

भरत ने कहा था कि श्रमणों और काषायवसनों को नाट्यगृह की नींव डालने के समारोह से अलग रखना चाहिये जो इस बात को पुष्ट करती है कि इन सम्प्रदायों ने अभी तक जनसाधारण अथवा राजपुरुषों पर अपना प्रभाव नहीं जमाया था और यही स्थिति हमें भास के नाटकों में भी मिलती है।[1] इन बातों से यह स्पष्ट है कि भास निश्चिततया नाट्यशास्त्र से परिचित थे और इसी शास्त्र का उन्होंने अपने लिये भी अनुसरण किया। यदि वे कुछ छूट लेते दिखायी देते हैं तो ये भरत के नाट्यशास्त्र में भी वर्जित नहीं थीं।

बहुतायत से प्राप्त सबूतों के आधार पर डा० पुसालकर भास को मौर्यपूर्व काल का मानते हैं[2]। इस प्रमाण तथा यहाँ वर्णित अन्य सबूतों के आधार पर भरत के नाट्यशास्त्र का द्वितीय अध्याय मौर्यकाल और भास से पहले, किन्तु पाणिनि के बाद ५वीं तथा ४ थी ईसा पूर्व शती में रखा जा सकता है और नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में वर्णित नाट्यशालाएं इतनी ही, यदि इससे अधिक नहीं, प्राचीन मानी जा सकती हैं। ००

(अनुवाद : विमल लाठ)

1 भास -ए स्टडी' : पुसलकर, पृ० ७०

2. वही पृ० ८४ :

भरतसम्मत रंगमंच

□ श्री वासुदेव स्मार्त

प्राचीन भारतीय रंगमंच के स्वरूप की गवेषणा का कार्य आधुनिक भारतीय रंगमंच की अस्मिता की खोज के साथ जुड़ा हुआ है। आज भी हम अपने जातीय रंगमंच की उपलब्धि नहीं कर सके हैं। भारतीय रंगमंच की प्रतिष्ठा के लिए प्राचीन भारतीय रंगमंच के प्रायोगिक स्वरूप की खोज आज भी जीवित नृत्य और नाट्य की क्लासिकी तथा लोक परम्पराओं के गहन अनुशीलन तथा अन्य सभी स्रोतों की परीक्षा के द्वारा की जानी चाहिए। इस दिशा में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर भरतसम्मत रंगमंच के निर्णय का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नाट्यशास्त्र संस्करणों के प्रकाशन के साथ ही इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार हुआ है।

नाट्यशास्त्र के सम्पादक और अनुवादकों के अतिरिक्त डा० सुब्बाराव, श्री माधव अछवल, प्रोफेसर सुशील कुमार डे, श्री गोवर्धन पांचाल, प्रोफेसर रेवाप्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानों ने भरतसम्मत रंगमंच के प्रश्नों को उठाया है और सुश्री शान्ता गांधी (दिल्ली), सुश्री विजया मेहता (महाराष्ट्र), डा० प्रेमलता शर्मा एवं डा० कमलेश दत्त त्रिपाठी (वाराणसी) ने प्रायोगिक रूप से भरत के रंगमंच पर नाट्योपस्थापन के प्रयास किये हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में नाट्यवेश्य या नाट्यमण्डप का वर्णन किया है। अभिनवगुप्ताचार्य ने नाट्यशास्त्र की अपनी व्याख्या में उस पर प्रकाश डाला है। इन विवरणों के आधार पर भरत रंगमंच के कुछ प्रश्नों पर विचार करना उपादेय होगा।

मुनि भरत ने विकृष्ट (लम्बाकार), चतुरस्र (चौकोर) और त्र्यस्र (त्रिकोण)—इन तीन नाट्यमण्डपों का वर्णन किया है। इनमें से प्रत्येक ज्येष्ठ, मध्यम और अवर—इन तीन-तीन आकारों के होते हैं। यही मत अभिनवगुप्तपादाचार्य को सम्मत है। कुछ आचार्यों के मत से विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र ही क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम और अवर आकार के मंच होते थे। ज्येष्ठ आदि नाट्यमण्डप क्रमशः १०८,६४ और ३२ हाथ लम्बाईवाले होते थे। हाथ की जगह दण्ड की माप भी ली जाती थी। इस तरह अभिनवगुप्तपादाचार्य के अनुसार १८ प्रकार के नाट्यमण्डपों का सम्प्रदायानुसार वर्णन चला आया है। किन्तु यह वह भी कहते हैं कि आज सभी प्रकार उपयोगी नहीं है यद्यपि कोई कभी उपयोगी हो सकता है, इसलिये निर्देश तो सभी का आवश्यक है।

इन नाट्यमण्डलों अथवा प्रेक्षागृहों में मध्यमाकार प्रेक्षागृह प्रशस्त माने गये, क्योंकि इसमें पाठ्य और गेय आसानी से सुने जा सकते थ। यह प्रेक्षागृह "शैलगुहाकार"
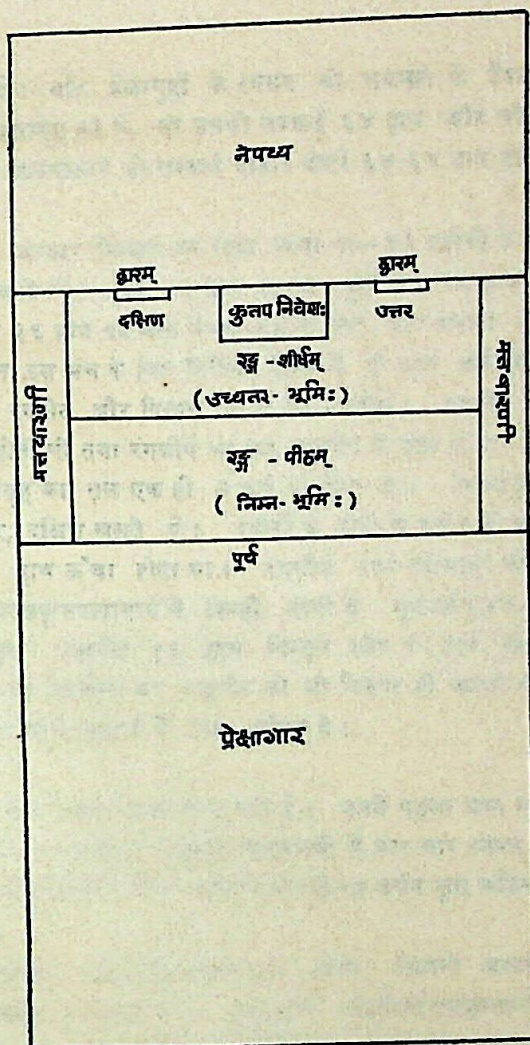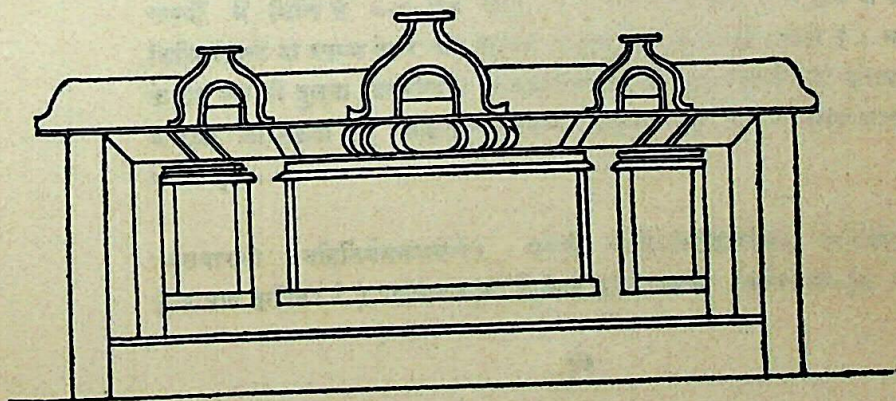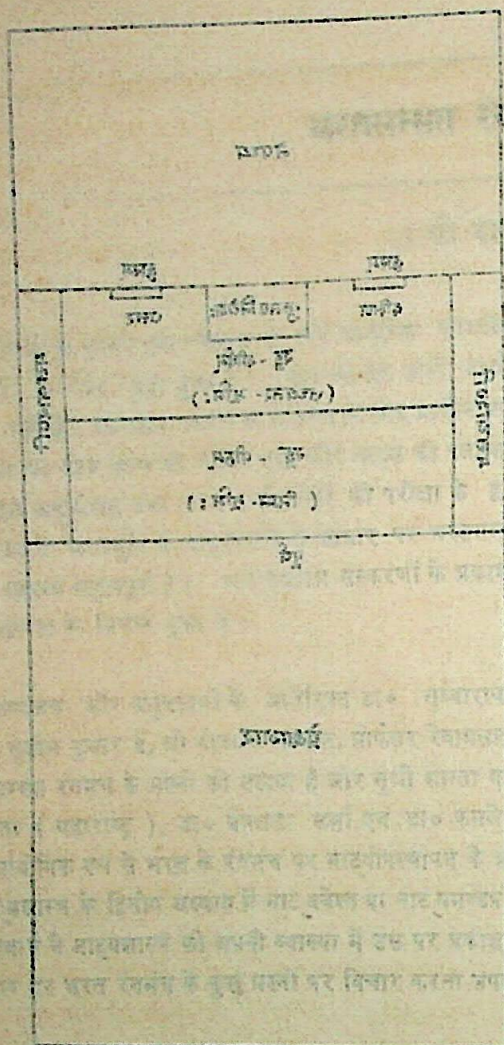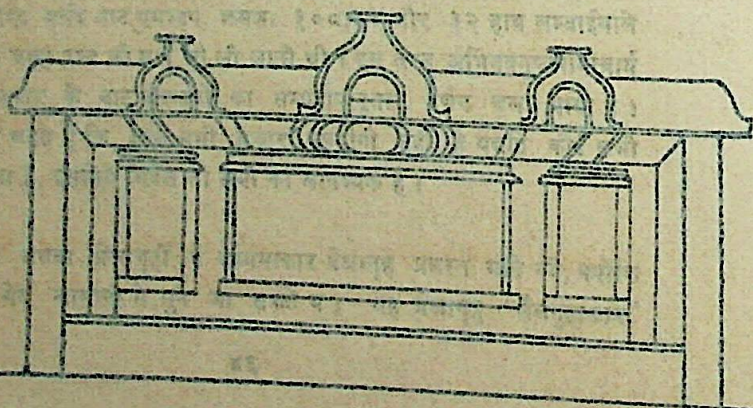
बनाये जाते थे। यदि प्रेक्षागृहों के स्वरूप को समझने के लिए हम विकृष्ट और मध्यमाकार प्रेक्षागृह को लें, तो उसकी लम्बाई ६४ हाथ और चौड़ाई ३२ हाथ होगी और चतुरस्र मध्यमाकार की लम्बाई चौड़ाई दोनों ६४-६४ हाथ होगी।

अब यह पुनः बराबर विभक्त कर दिया जाता था—३२ दर्शकों के निवेश के लिये और ३२ हाथ मंच के लिए। यह ३२ हाथ का भाग पुनः १६-१६ हाथ में बांट दिया जाता था। पिछला १६ हाथ का भाग नेपथ्य गृह के लिए और अगला १६ हाथ हिस्सा मंच के लिए। पुनः इस मंच के लिए निश्चित हिस्से में दो भाग होते थे—अगला ८ × ३२ का हिस्सा रंगपीठ और पिछला ८ × ३२ रंगशीर्ष। रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में मत्तवारणी होती थी तथा रंगशीर्ष का तल रङ्गपीठ से कुछ ऊँचा होता था। रंगशीर्ष और नेपथ्यगृह का तल एक ही ऊँचाई का होता था। नेपथ्यगृह से रंगशीर्ष पर दो द्वार—उत्तर, दक्षिण खुलते थे। दर्शकों के बैठने के स्थान के अग्रिम तल से रङ्गपीठ का तल डेढ़ हाथ ऊँचा होता था। रंगशीर्ष तथा नेपथ्यगृह को एक दीवार बाँटती थी। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने किन्हीं लोगों के एक और मत का उल्लेख किया है जिनके अनुसार रङ्गपीठ १६ हाथ विस्तृत और ८ हाथ दीर्घ माना गया है। दूसरे इसी को विपर्यस्त कर रङ्गपीठ को भी विकृष्ट ही मानते थे। यहाँ तक स्थिति स्पष्ट है और इसमें विद्वानों में प्रायः मतैक्य है।

किन्तु इसके बाद वर्णन उतना स्पष्ट नहीं है। उनमें पहला प्रश्न मत्तवारणी के निर्माण से सम्बद्ध है। भरतमुनि के अनुसार मत्तवारणी में चार-चार स्तम्भ होने चाहिए किन्तु यह चार स्तम्भ कहाँ बनाये जायें? अभिनव भारती का वर्णन कुछ कठिनाई पैदा करता है—

"स्तम्भाश्चत्वारः बहिर्मण्डपान्निष्कासनं कृत्वा ध्रियन्ते मण्डपक्षेत्रादबहिः। तेन भित्तिच्छेदावधौ स्तम्भद्वयम। ततोऽपि वहिर्भित्ते रष्टहस्तान्तरस्तम्भापेक्षयाप्यष्ट-हस्तान्तरस्तम्भइयम् इत्येतावदित्यष्टहस्तविस्तारा समचतुरस्रा मत्तवारणी भवति।"

इस अंश की एक व्याख्या यह की जा सकती है कि मत्तवारणी का निर्माण प्रेक्षागृह की भित्ति से बाहर की ओर निकालते हुए किया जाता था। इस प्रकार रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में भित्ति से ८-८ हाथ बाहर २ स्तम्भ देकर और ८-८ हाथ के अन्तर पर भित्ति से सटे दो स्तम्भ देकर चार स्तम्भों से युक्त मत्तवारणी हो सकती है। मत्तवारणी के इस रूप की तुलना देवमन्दिरों के प्रदक्षिणामार्ग से बाहर निकले छोटे बरामदे के रूप में देखी जा सकती है। खजुराहों में इसके उदाहरण स्पष्ट हैं। अभिनव भारती स्पष्ट करती है—

"मत्तवारणी बहिर्निर्गमनप्रमाणेन सर्वतो द्वितीयभित्तिनिवेशेन देवप्रसादाद्वारिका (प्रासाद द्वारिका ?) प्रदक्षिणसदृशी द्वितीया भूमिरित्यन्ये" (अभि०भा०पृ० ६३)

किन्तु अभिनवभारती 'आयामस्तु प्रमाणम् इति ये वदन्ति तेषां मते दैर्ध्यादष्टहस्तं विस्तारात् षोडशहस्तमित्येवं विकृष्टता रङ्गपीठस्य भवति" भी कहती है। अतः प्रतीत होता है कि 'रङ्गपीठप्रमाणतः" इस भरतमुनि के वचन में या तो प्रमाण का अर्थ "आयाम" मानकर अथवा "चतुः स्तम्भसमायामा" पाठ स्वीकार करने वाले लोग रंगपीठ को १६ हाथ चौड़ा और ८ हाथ गहरा मानकर उसके पार्श्व में ही भित्ति से भीतर "मत्तवारणी" मानते थे। यह पक्ष अभिनव गुप्त का अभिष्ट भी प्रतीत होता है। इस रीति से विकृष्टरंगपीठ होगा। इससे मुनिवचन की संगति भी हो जाती है। अभिनवभारती कहती है—

"तत्र रंगपीठं विस्तारतः षोडशदैर्घ्यंतस्त्वष्टहस्ता इति केचित्। अन्ये त्वेतदेव विपर्यासयन्ति। सर्वथा तावद्रङ्गपीठस्यापि विकृष्टत्वं विधेयमिति तात्पर्यम्। यद्वक्ष्यते-रंगोविकृष्टो भरतेन कार्यः" (ना०शा० १२—२०। इत्यादि)।
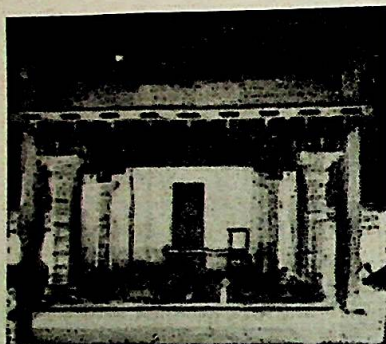
केरल का एक रङ्गमञ्च

मत्तवारणी का फर्श रंगपीठ के फर्श के बराबर होता था, किन्तु रंगपीठ से ऊँचा रंगशीर्ष का फर्श और उसी प्रकार मत्तवारणी का फर्श भी उससे ऊँचा होने का भी संकेत है—"कुट्टिमस्य नानात्वं रंगशिरोरङ्गपीठमत्तवारणीद्वयभेदात्" (अभिनवभारती पृ० ६३)।

मत्तवारणी की इस समस्या के अतिरिक्त "षड्दारुक" को समझने का भी प्रश्न है। षड्दारुक को डा० सुब्बाराव तथा उनके सहयोगी माधव अछवल ने रंगपीठ और रंगशीर्ष के आधार के रूप में प्रयुक्त छह लकड़ी की शहतीरों के रूप में समझा है। अभिनव भारती—"रंगशीर्षन्तु कर्त्तव्यं षड्दारुकसमन्वितम् (ना० शा० २-६८) की व्याख्या में कहती है—"नेपथ्यभित्तिलग्नौ स्तम्भावष्टहस्तान्तरावन्योन्यं निवेश्य तयोर्यन्मुखं तदपेक्षया चतुर्हस्तान्तरं स्तम्भद्वयम्। तेपामधस्तनं काष्ठमुपरितनं चेति षड् दारुणि। यत्र षड् दारूणि तत् षड्दारूकम्।"

इस वर्णन से प्रतीत होता है कि षड्दारूक का सम्वन्ध रङ्गशीर्ष से है और वहाँ भित्ति से आठ हाथ हटकर उभयपार्श्व के दोनों स्तम्भों के आगे चार हाथ पर दो खम्भे और खड़े किये जाते थे। इनके नीचे-ऊपर लगे छह काष्ठ के शहतीरों को षड्दारूक कहा जाता था। इससे निर्मित मण्डप को विविध रूप में सज्जित किया जाता था। इस सज्जा को ऊह प्रत्यूह से युक्त तथा नाना शिल्पसमन्वित कहा गया है।

इसी रङ्गशीर्ष पर नेपथ्यगृह के जो द्वार खुलते हैं—उनके मध्य में "कुतप सन्निवेश" किया जाता था। नाट्य में जो संगीत प्रस्तुत होता था, उसको प्रस्तुत करने वाले वादक-गायक यहीं बैठते थे। भरत ने स्पष्ट रूप से इसका निर्देश किया है—

"ये नेपथ्यगृहद्वारे मया पूर्वं प्रकीर्तिते ।
तयोर्भाण्डस्य विन्यासः" (ना०शा० १३-२)

यही नहीं कुतपावस्थान का विस्तृत विवरण दिया गया। (ना०शा० ३४, गद्य-२१५) "प्रयोगमिदानीं वक्ष्यामः। तत्रोपविष्टे प्राङ्मुखे रङ्गे कुतप एव विन्यासः कर्त्तव्यः। तत्र पूर्वोक्तयोर्नेपथ्यगृहद्वारयोर्मध्ये कुतपविन्यासः कार्यः। तत्र रङ्गाभिमुखो मौरजिकस्तस्य पाणविकदर्दुरिकी वामतः। एष प्रथमम् अवनद्धकेन तस्य ततः कुतपविन्यासः उक्तः। तत्रोत्तरोभिमुखो गायकः। गायकस्य तु वामपार्श्वे तु वैणिकः। वैणिकस्य दक्षिणेन वंशवादकौ। गातुरभिमुखं गायिका। इति कुतपविन्यासः"।

पूर्वरङ्ग में कुतप-विन्यास प्रायः अब सब को स्वीकृत हो गया है। किन्तु नाट्यप्रयोग के समय कुतप का रङ्ग पर बने रहना कुछ लोगों को ग्राह्य नहीं लगता। नाट्यप्रयोग के समय "ध्रुवा" प्रयोग का भरत का विस्तृत विधान है। "ध्रुवा" का प्रयोक्ता कुतप ही है, अतः कुतप का पूरे समय बना रहना अनिवार्य है। यक्षगान, कथाकलि, कुड़ियाट्टम, इत्यादि "देशी" नाट्य-परम्पराओं में भी कुतप का नृत्य-नाट्य-प्रयोक्ताओं के पीछे पूरे प्रयोग में अवस्थान भरत परम्परा का ही अवशेष है। कुतप के बने रहने से प्रेक्षकों के रसबोध में व्याघात की बात की भी न तो नाट्यशास्त्र के विधान से संगति है, न आज जीवित प्रयोग परम्पराओं से।

भरतरङ्गमंच पर पर्दे के प्रयोग के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। प्रोफेसर रेवा प्रसाद द्विवेदी के अनुसार भरत और कालिदास के साक्ष्यानुसार रङ्गमंच पर अग्र, मध्य और पश्चाद्वर्ती—तीन जवनिकायें होती थीं। किन्तु यहाँ यह कहा जा सकता है कि भरत के उल्लेख से कम से कम एक जवनिका की स्थिति तो स्पष्ट है क्योंकि पूर्वरङ्ग के कुछ अंग "अन्तर्जवनिकासंस्थ" माने गये और कुछ "बहिर्जवनिकासंस्थ"। अब यह निश्चय करना होगा कि यह जवनिका नेपथ्यगृह के द्वार पर लटकता पर्दा था या रङ्गपीठ तथा रङ्गशीर्ष के बीच में कोई पर्दा। इतना अवश्य है कि "ततः प्रविशति

शयनगृहगतः राक्षसः" जैसे नाट्यनिर्देशों के पालन के लिए या तो हम रङ्गपीठ तथा
रङ्गशीर्ष के मध्य जवनिका माने अथवा लोकरंगमंच की कई जीवित परम्पराओं में
जैसे अगल-बगल किनारों को पकड़ कर दो व्यक्ति पटी का प्रयोग करते हैं, वैसे ही
पटी का प्रयोग स्वीकार करें। पटी अथवा जवनिका का प्रयोग मानना अवश्य पड़ेगा।
लटकी हुई जवनिका के विपक्ष में दो प्रवल प्रमाण हैं—एक तो जवनिका को लटकाने
और सरकाने अथवा ऊपर को लपेटने के किसी भी "यन्त्र" के उल्लेख का सर्वथा
अभाव और दूसरे जीवित नाट्य-परम्पराओं में लटकने वाली जवनिका का अभाव।
अतः तिरस्करिणी या पटी के ही पक्ष का प्राबल्य है।*

स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता॥
अतिवाक्यक्रियोपेतमतिसत्वातिभावकम्।
लीलांगहाराभिनयं नाट्यलक्षणलक्षितम्॥

स्वाभाविक निसर्गसिद्ध इत्यादि स्थायी भावों और निर्वेदादि व्यभिचारी भावों से उपगत शुद्ध तथा विकृत, लोक प्रसिद्ध के उपयोगी क्रियाओं से उपेत, अङ्ग लीलाओं से रहित अपने भावों के अनुसार किये गये अभिनयों से युक्त और नाना स्त्री एवं पुरुषों का समाश्रयण करने वाला ऐसा जो नाट्य है वह नाट्य लोकधर्मी माना गया है।

इतिहास वगैरह में प्रयुक्त वाक्यों का अतिक्रमण करने वाली कल्पनात्मिका क्रियाओं से उपेत, स्वाभाविक सत्वों को प्राणियों को. एवं भावों को अतिक्रमण करने वाला लीलापूर्वक किये गये अंगहारों से विशिष्ट, अभिनयों से उपयुक्त नाट्य के लक्षणों से लक्षित स्वर और अलंकारों से संयुक्त और अपने स्वरूप में स्थित नहीं रहने वाले पुरुषों के आश्रित ऐसा जो नाट्य है वह नाट्यधर्मी माना गया है।

---

* यह लेख डॉ० कु० प्रेमलता शर्मा, संकाय प्रमुख, संगीत एव नाट्यकला संकाय, का० हिं० वि० वि०, एवं डा० कमलेशदत्त त्रिपाठी, अध्यक्ष, धर्मशिक्षा विभाग, का० हिं० वि० वि० के सहयोग से लिखा गया।

विकृष्ट मध्यम रंगशाला 64 × 32 हस्त

अभिनवगुप्त-संमत

पृष्ठ भाग

1

2 4 5 6 7 8

9

10 11 12

13 14

15

16 × 32 ह.

8 × 32 ह.

8 × 32 ह.

32 × 32 ह.

64 × 32 हस्त

पार्श्व भाग

आयाम 64 हस्त

पार्श्व भाग

अग्र भाग

रंगशाला के 19 अंग

कुतप संनिवेश

सोलह स्तंभ

भित्ति

तिरस्करिणी, पर्दा

1 नेपथ्यगृह 16 × 32 हस्त

2 नेपथ्यगृह भित्ति 2 ह.

8 नेपथ्यप्रवेश द्वार 4 ह.

4 नेपथ्य भित्ति 2 ह.

5 नेपथ्य भित्ति 16 ह.

6 नेपथ्य भित्ति 2 ह.

7 रंग प्रवेश द्वार 4 ह.

8 नेपथ्य भित्ति 2 ह.

9 रंगशीर्ष 8 × 32 ह.

10 मत्तवारणी 8 × 8 ह.

11 रंगमंच 8 × 16 ह.

12 मत्तवारणी 8 × 8 ह.

13 मत्तवारणी भित्ति 8 ह.

14 मत्तवारणी भित्ति 8 ह.

15 प्रेक्षागृह 32 × 32

रंगपीठ

चित्रांकन : रे. प्र. द्विवेदी

शास्त्रीय रंगपीठ के कुछ अंग

□ रेवाप्रसाद द्विवेदी

● भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रङ्गपीठ के स्वरूपनिर्धारण को लेकर पिछले प्रायः छह दशकों से मतभेद चला आ रहा है, जैसा कि डा० मनमोहन घोष (कलकत्ता), डा० सुब्बाराव (बड़ौदा), श्री विश्वेश्वर (वृन्दावन), श्री मधुसूदन मिश्र (वाराणसी), श्री बाबूलाल शास्त्री (उज्जैन) और डा० रघुवंश (इलाहाबाद) के नाट्यशास्त्रीय संस्करणों और उस पर प्रकाशित विचारों से स्पष्ट है। इधर लगभग दो दशकों से इस देश के प्रतिष्ठित रङ्गकर्मी श्रीमती शांता गांधी, श्री गोवर्धन पांचाल, डा० कुमारी प्रेमलता शर्मा तथा डा० कमलेश दत्त त्रिपाठी इनमें उल्लेखनीय हैं, भरतसम्मत रङ्गमन्च को अनेक रूपों में अपनाते और प्रस्तुत करते आ रहे हैं। नाट्यशास्त्र और उसके सुप्रतिष्ठित संस्कृतभाष्य अभिनव भारती के अध्ययन से कुछ और भी विकल्प प्रतीत होते हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

विकृष्ट मध्यम परिमाण की रङ्गशाला के निम्नांकित स्वरूप तक कोई मतभेद नहीं हैं। इस विकृष्ट मध्यम परिमाण की रङ्गशाला का आयाम अर्थात् लम्बाई ६४ हस्त है और विस्तार वा चौड़ाई ३२ हस्त। लम्बाई से यह रंगशाला दो समान भागों में विभाजित है। इनमें से अगला आधा भाग प्रेक्षागृह या आडीटोरियम के लिए निर्धारित है और पिछला भाग रङ्गपीठ के लिए। रंगपीठ के लिए निर्धारित पिछले भाग पर डेढ़ हस्त ऊँची वेदिका है, जिसकी लम्बाई और चौड़ाई बराबर अर्थात् ३२ × ३२ है। इस वेदिका को लम्बाई से पुनः दो भागों में बांटा गया है। अभिनव भारती के अनुसार यह विभाजन पक्की दीवार से किया गया है। तदनुसार डेढ़ हस्त ऊँची इस वेदिका या चबूतरे पर १६ हस्त की लम्बाई पर एक दीवार खड़ी है, जिसमें दोनों छोरों पर दो-दो हस्त की चौड़ाई छोड़ चार-चार हस्त चौड़े दो दरवाजे हैं। अतः इसे नेपथ्यगृह-भाग कहा जाता है। यहाँ तक सभी विचारक प्रायः एकमत हैं।

निर्देश

उक्त दीवार के सामने प्रेक्षागृह की ओर १६ हस्त लम्बा या गहरा और ३२ हस्त चौड़ा समचतुरस्त्र पीठ या चौकोर चबूतरा है इस पर अभिनव भारती का निर्देश हैं कि रङ्गशीर्ष, रङ्गमन्च और दो मत्तवारणियां बनाई जाएं। आगे निर्देश है कि :—

१. रंगशीर्ष नेपथ्यगृह की दीवार से लेकर आगे की ८ हस्त की लम्बाई तक रखा जाए।

२. रंगमंच उसके आगे के ८ हस्त की लम्बाई में बनाया जाए, तथा

३. मत्तरवारणी दो हों और दोनों मंच के बाजू से बनाई जाएं, जिनमें से प्रत्येक में चार-चार स्तम्भ हों। मत्तवारणी को मत्तवारण भी कहा जाता है, जिसका अर्थ है बरामदा।

इन निर्देशों से स्पष्ट होता है कि (१) नेपथ्यगृह और रंगमंच के बीच के ८×३२ का भाग रंगशीर्ष माना जाय (२) रंगमंच के दोनों पार्श्वों में ८×८ की चार-चार स्तंभों से युक्त एक-एक मत्तवारणी बनाई जाए और (३) दोनों मत्तवारणियों के बीच ८×१६ का रंगमंच बनाया जाए। साथ ही इनमें से नेपथ्य और रंगशीर्ष का विभाजन उपर्युक्त दो द्वारों से युक्त भित्तिका द्वारा किया जाए।

प्रश्न

प्रश्न उठता है रंगशीर्ष से रंगमंच और रंगमंच से मत्तवारणी की विभाजक सामग्री का अर्थात् इनका विभाजन कैसे किया जाए। इनके बीच कहीं भी दीवार बनाने का उल्लेख नहीं है। उल्लेख है मत्तवारणी और मंच के बीच दोनों ओर केवल चार-चार स्तम्भ बनाने का। किन्तु नाट्यशास्त्र के मूलपाठ और उसकी विशद टीका अभिनव भारती से यह स्पष्ट नहीं होता कि इन चार-चार खम्भों का विन्यास किधर से किधर की ओर हो। अधिक विद्वानों का मत है कि अभिनव गुप्त मत्तवारणी के दो स्तम्भों को भिति में जुड़े रहने के पक्ष में है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन विद्वानों के अनुसार अभिनव गुप्त दोनों पार्श्व के केवल दो-दो स्तम्भों को मंच का विभाजक मानते हैं। यह लेख के प्रारम्भ में छपे चित्र से स्पष्ट है। इस सम्भावना पर भी विचार किया जा सकता है कि ये चारों खम्भे मंच से सटे रहते थे अर्थात मंच के अग्रभाग से लेकर ८ हस्त गहराई तक इन्हें सिधाई में खड़ा किया जाता रहा होगा और भित्ति के भीतर लगे खम्भों की गिनती इनमें नहीं की जाती होगी। इस कल्पना के पीछे दो रंगमंचीय आवश्यकताएं निहित हैं—एक तो रात को होने वाले नाट्यमंचन के लिए प्रकाश-व्यवस्था की और दूसरी मत्तवारणी के भीतर ८×८ के रिक्त स्थान के छिपाव की, क्योंकि नाट्यशास्त्र में ऐसा उल्लेख मुझे नहीं मिला कि अभिनय का कोई अंग मत्तवारणी में भी अभिनीत किया जाए और मत्तवारणी के भीतर की सामग्री प्रेक्षागृह से दिखाई पड़ सके। मंच से सटकर चार-चार स्तम्भ खड़े करने पर उक्त दोनों आवश्यकताएं पूरी हो सकती हैं। प्रकाश व्यवस्था के लिए तो अभिनवगुप्त ने स्पष्ट लिखा है कि यह मतवारणी से ही की जाती थी। छिपाव के लिए खम्भों को चौड़ा भी

माना जा सकता है और प्रेक्षागृह की ओर के मत्तवारणी के ८ हाथ के भाग को दीवार से ढंका जा सकता है।

मत्तवारणी के स्थान के विषय में भी विवाद है। कुछ विद्वानों ने इसे रंगशाला की ३४ हस्त लम्बी दीवार के बाहर २८ हस्त के आगे २९वें हस्त से ३६वें तक ८×८ के आकार में बनाया जाता बतलाया है। इसको नीचे दिये रेखाँकन से समझा जा सकता है :—

२८ हस्त		२८ हस्त
८ ८ मत्तवारणी		८ ८ मत्तवारणी
२८ हस्त		२८ हस्त
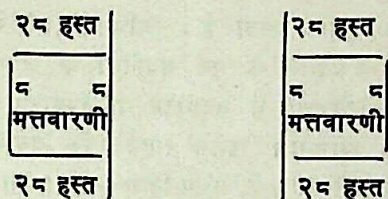
किन्तु इसके अनुसार रंगमंच के दोनों बगल बचे ८×८ के चोकोर रिक्त स्थानों के उपयोग और उनके नाम की खोज करनी होगी। सामान्यतः भारतीय स्थापत्य में जो भूमि भवन निर्माण के लिए अपनाई जाती है उसकी सीमाभिति के बाहर कोई निर्माण नहीं किया जाता। राजशेखर की काव्यमीमांसा में राजसभा का जो स्वरूप बतलाया गया है उसमें सभा के भीतर आठ मत्तवारणियों के निवेश का उल्लेख है। इनमें से किस में किस शिल्पी या विद्वान् को बैठना चाहिए इसका भी विशद विवरण वहां प्राप्त है। मत्तवारणी यदि बाहर होगी तो सभासदों को राजसभा से बाहर बैठाने की बात सोचनी होगी, जो व्यवहारशुद्ध न होगी। नाट्यशाला के संदर्भ में भी यही सोचना होगा। वस्तुतः मत्तवारणी को रंगमंच के पार्श्व में सटकर रंगशाला के भीतर ८×८ के रिक्त स्थान के रूप में भी समझना व्यवहार, नाट्य प्रयोग की आवश्यकता और स्थापत्य की दृष्टि से अधिक उचित है। यदि मत्तवारणी को रंगशाला के बाहर की ओर निकला माना जाए तो ऊपर निर्दिष्ट प्रकाश व्यवस्था के लिए यह अनुपयुक्त होगी, क्योंकि मंच और इस प्रकार की मत्तवारणी के बीच कम से कम ८ हस्त का फासला होगा जो प्रकाश की समुचित मात्रा में बाधक होगा। रंगमंच को मत्तवारणी की इस कल्पना के अनुसार १६×३२ का माना गया है, किन्तु इसका अनुमोदन नाट्यशास्त्र और अभिनव भारती इन दोनों से नहीं होता। अभिनव भारती में रंगमंच के विकृष्ट या आयताकार होने के पक्ष में अनेक विकल्प दिये हैं, परन्तु उनमें १६×३२ का कोई विकल्प नहीं है और उनमें उपर्युक्त ८×१६ के पक्ष को ही वरीयता दी गई है।

इस प्रकार मत्तवारण या बरामदे का स्थान वहीं है, जो मंच के १६ हस्त के मध्यवर्ती विस्तार के बाद रंगशाला के भीतर और रंगपीठ के ऊपर अवशिष्ट है, जिसमें चार-चार स्तम्भों की योजना बनाई गई है और जिसे ८×८ हस्त के आकार में समचतुरस्त्र या

चौकोर माना गया है। इनके भीतर किसी प्रकार का अभिनय नहीं होता और ये प्रेक्षकों के लिए दृश्य नहीं होतीं।

अब रहा रंगशीर्ष और रंगमंच के विभाजन का प्रश्न। इसका समाधान नाट्यशास्त्र के पंचम अध्याय के पूर्वरंग विधान से मिलता है। पूर्वरंग का अर्थ है मुख्य नाट्यप्रयोग के पहले की तैयारी और प्रस्तावना। इसके लगभग २३ अंग होते हैं। इनमें से प्रथम ६ अंगों को 'अन्तर्यवनिका-गत' और शेष अंगों को 'बहिर्यवनिका-गत' कहा गया है। यवनिका को संस्कृत में जवनिका, यमनिका, तिरस्करिणी, पटी, अपटी, कांडपटी, प्रतिसीरा आदि शब्दों से पुकारा जाता है। अभिनवभारती में आचार्य अभिनवगुप्त ने बहिर्यवनिका-गत अंगों के प्रदर्शन के पूर्व यवनिका के अपसरण की बात स्पष्ट कही है। इसके लिए नाट्यशास्त्र में उद्घाटन या विघाटन शब्द भी आए हैं। इनका अर्थ है उठाना या खोलना। इससे स्पष्ट है कि यवनिका पर्दा ही है। इसके पीछे जो अंग सम्पन्न किये जाते हैं उन्हें कुतप-विधान कहा जाता है। कुतप का अर्थ है वाद्ययंत्रों का उनके निर्दिष्ट स्थानों पर रखा जाना। वाद्यों को ठोंकठाक कर या खींचतान कर ठीक करने को भी इसीके अन्तर्गत गिन लिया जाता है। यह सब अवश्य ही पर्दे के पीछे ही किये जाने योग्य कार्य है। इनका प्रेक्षकों के सामने सम्पन्न किया जाना वैसा ही होगा जैसे नेपथ्य विधान का प्रेक्षकों के सामने संपन्न किया जाना। नान्दी आदि शेष अंग मुख्य नाटक के प्रयोग के पूर्व प्रेक्षकों को दिखलाए जा सकते हैं, अतः उन्हें बहिर्यवनिका-गत कहा गया है। किन्तु इन सभी अंगों का मुख्य नाट्यप्रयोग के समय मंच पर रहे आगे का कोई विधान नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता और न तो इसका कोई औचित्य ही है। इससे प्रत्युत दर्शक की रस या भावधारा में रुकावट आती है, जैसा कि कुछ नाट्यप्रयोगों में अनुभव किया गया है।

कुतप-संनिवेश के लिए अभिनवगुप्त ने स्पष्ट लिखा है कि इन्हें नेपथ्य के दोनों द्वारों के बीच से रंगमंच के तीनों ओर फैलाकर किया जाना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि कुतप-संनिवेश आसपास की मत्तवारणियों और पर्दे के पीछे के रंगशीर्ष में होता था।

इस स्पष्टीकरण से यह तथ्य प्रकाश में आता है कि रंगमंच और रंगशीर्ष का विभाजन यवनिका से होता है। यवनिका मंच का एक स्थायी अंग है और उसे दो स्त्री पात्रों के हाथ में रखी किसी चित्रित पटी के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

कालिदास साहित्य से यह भी सिद्ध होता है कि मंच पर कम से कम तीन यवनिकाएं या पर्दे रहा करते थे। इन्हें पश्च-यवनिका, मध्य-यवनिका और पुरोयवनिका कहा जा सकता है। इनमें से ऊपर उल्लिखित यवनिका को पश्च-यवनिका कहा जाएगा। कालिदास के मालविकाग्निमित्र से इस पश्च-यवनिका का अस्तित्व असंदिग्ध रूप से सिद्ध है। द्वितीय अंक के नृत्य प्रयोग का उद्देश्य नायिका को नायक के समक्ष

प्रस्तुत करना है। उपस्थित दर्शकों में नायक स्वयं के नेत्रों को नायिका के दर्शन के लिए अत्यन्त उत्सुक और अधीर बतलाते हुए कहता है कि 'नेत्र चाहते हैं कि सामने की इस नेपथ्य-तिरस्करिणी को लपक कर बटोर दें, जिससे प्रिया के दर्शन में पल भर की देरी न हो :—

नेपथ्य-गृह गतायाश्चक्षुदर्शन-समुत्सुकम् तस्याः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम् ॥

मालविकाग्निमित्र २. १.

यहाँ नेपथ्यगृह, तिरस्करिणी और संहार ये तीनों शब्द पश्च-यवनिका के विषय में पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। संहार-शब्द का अर्थ है बटोरना। निश्चित ही नेपथ्य और रंगशीर्ष के बीच की यवनिका या तिरस्करिणी को एक ओर से खींचकर दूसरी ओर सरकाया जाता था। यह तिरस्करिणी यदि किन्हीं स्त्री पात्रों के हाथ में होती तो नायक उन पात्रों के प्रति आक्रोश व्यक्त करता। नेपथ्यगृहगता के स्थान पर हमने अपनी कालिदास ग्रन्थावली में नेपथ्यपरिगता पाठ माना है। इससे सिद्ध होता है कि नायिका नेपथ्य-धारण कर रंगशीर्ष में आ चुकी है और अब उसके और नायक के बीच केवल तिरस्करिणी का ही व्यवधान है। हमारे पाठ में नेपथ्य का अर्थ नृत्योचित वेष है।

पश्च-यवनिका के विषय में दूसरा उल्लेख इसी सन्दर्भ में पुन: आता है। जब नायिका अपना नृत्य दिखलाकर चली जाती है तब नायक पुनः कहता है 'यह तिरस्करिणी मेरे नेत्रों का भाग्यास्त है, हृदय के महोत्सव का अवसान है और है मेरी प्रीति के लिये द्वारविधान :—

भाग्यास्तमयमिवाक्ष्णोर् हृदयस्य महोत्सवावसानमिव।
द्वारपिधानमिव रतेर् मन्ये तस्यास्तिरस्करिणीम् ॥ मालवि.॥०.११॥

यहाँ तिरस्करिणी शब्द का अर्थ भी स्पष्ट है। उसे यहाँ छिपाने के अर्थ में अपनाया गया है। निश्चित ही कवि का लक्ष्य है नायिका (मालविका) के तिरस्करिणी या यवनिका में तिरोहित होने पर नायक (अग्निमित्र) का आक्रोश।

मध्य यवनिका का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता, परन्तु भास के ही समान कालिदास भी अनेक बार आसनोपविष्ट पात्रों का प्रवेश बतलाते हैं। यह प्रवेश आसन पर बैठे पात्रों का प्रेक्षकों की दृष्टि से सामने आना है। इन दिनों ऐसे कार्यों के लिए रंगकर्मी लोग मंच पर अंधकार का सहारा लेते हैं, किंतु भावी अंक की सामग्री मंच पर लाने के लिए कुछ प्रकाश की आवश्यकता इन्हें भी पड़ती ही है और प्रेक्षकों को परिवर्तन की पूरी प्रक्रिया और क्रिया दिखाई देती रहती है। अंधकार भी तिरोधान का ही माध्यम है

और उसके लिए यवनिका अधिक उपयुक्त है। पश्च-यवनिका के रूप में एक यवनिका का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर द्वितीय यवनिका के अस्तित्व पर संदेह करना और उसको न अपनाने का हठ संजोए रखना रंगकर्मियों के कदाचित् इस संस्कार का परिणाम है कि यवनिका यूनानी मंच से आयातित है। यह धारणा सत्य भी हो तो भारत की सामाजिक संस्कृति के विरुद्ध है। दूसरे जब भरतमुनि ने इसे स्वीकार कर लिया तो इसका निराकरण इतिहास की अवज्ञा है। इसका कारण यदि सचमुच विदेशी उपनिवेश की गंध है, तो फिर बिजली और माइक को भी छोड़ा जाना चाहिए। ये भी विज्ञान की विदेशी उपलब्धियां ही हैं। स्पष्ट ही रंगकर्मी सज्जन परम्परा को आधुनिकता से अलग कर प्रस्तुत नहीं कर पा रहे हैं ऐसी स्थिति में यवनिका यदि कोई बाद की भी वस्तु है तो उसका निराकरण कोरा हठ है।

अग्र-यवनिका का संकेत कुमारसंभव से मिलता है। 'हिमगिरि की गुफाओं में विहाररत किन्नर-मिथुन जब रति-क्रीड़ा के लिए उद्यत होते हैं, तो उस समय अपेक्षित तिरस्करिणी का कार्य सम्पन्न करते हैं मेघ गुफाओं के दरवाजों पर लटक-लटक कर—

> यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानाम् यदृच्छया किंपुरुषांगनानाम्।
> दरी-गृह-द्वार-विलम्बि-बिम्बास्तिरस्करिण्यो जलदा भवन्ति ॥कुमार संभव॥१.१४.॥

यहां तिरस्करिणी के गुहा-द्वार पर लटकने की बात कही गई है। नाट्यशास्त्र में उल्लिखित शैलगुहाकार नाट्यशाला का स्मरण दिला रहे इस उल्लेख के 'गृह-द्वार' शब्द से नेपथ्यगृह के दरवाजे का संकेत नहीं माना जा सकता. कारण कि ये दरवाजे मत्तवारिणी की अग्रभित्ति से तिरोहित रहते हैं अथवा स्तम्भों से, पर्दों से नहीं।

उक्त तीनों पर्दों या यवनिकाओं में से पश्च-यवनिका का संकेत रामगढ़ की पर्वतगुहा में मिली रंगशाला में बने दो छेदों से भी मिलता है।

इस प्रकार शास्त्रीय रंगपीठ पर यवनिका या पर्दे का अस्तित्व भरत के नाट्यशास्त्र और कालिदास साहित्य से सिद्ध है। मंच और रंगशीर्ष का विभाजन इसी यवनिका से होता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भरतमुनि, कालिदास और अभिनवगुप्त के अनुसार—

१. मत्तवारिणी ८×८ आकार की मंच से सटकर बनाई जाती थी, बाहर नहीं। इसमें चार-चार खंभे होते थे, जो ८ हस्त की चौड़ाई छोड़ मंच के अग्र भाग से गहराई की ओर खड़े किए जाते थे। इनसे प्रकाश व्यवस्था में सहायता मिलती थी और मत्तावारिणी का भीतरी भाग छिपाया जा सकता था। मंच को द्विभूमि बनाने में भी ये स्तम्भ सहायक होते थे, मत्तवारण शब्द से लगता है कि मत्तवारिणी में

हाथी दांत का काम हुआ करता होगा, सूंड उठाए हाथियों की पंक्ति उकेरी जाती होगी और यहीं से अभिनय के समय भूले अर्थात् मतपात्रों की भूलों का वारण प्राम्पटिंग द्वारा किया जाता होगा।

२. रंगमंच और रंगशीर्ष का विभाजन बीच में स्थायी रूप से लटकी यवनिका या तिरस्करिणी के सहारे होता था और मंच के मध्य और अग्र भाग में भी यवनिकाएं होती थीं।

३. कुतपसंनिवेश या गायक-वादकों और उनके यंत्रों का स्थान रंगशीर्ष और मत्तवारणियों में रंगपीठ के तीनों ओर होता था. न कि रंगशीर्ष या रंगमंच पर एक समूह में। कुतप के भी प्रथम ९ अंगदृश्य नहीं होते थे, जिनमें वाद्य आदि को सुधारा जाता था। शेष अंगों में नान्दी आदि जो अंग दृश्य होते थे, वे भी केवल पूर्वरंग में ही अर्थात् मुख्य नाटक के आरम्भ के पहले प्रस्तावना तक ही, न कि मुख्य नाट्य प्रयोग में भी।

ये ऐसे तथ्य हैं जो नाट्य के लोकधर्मी और नाट्यधर्मी इन दोनों प्रकार के प्रयोगों के लिए अनिवार्य हैं। इनसे रंगसज्जा में सुविधा भी हो सकती है और किफायत भी। साथ ही प्रयोग में निरन्तर गतिशीलता भी बनी रह सकती है, जिसे प्रयोग का प्राण माना जाता है।

इस प्रकार रंगपीठ के मत्तवारणी, रंगशीर्ष और रंगमंच से संबंधित कुछ तथ्य नाट्य-शास्त्र, अभिनवभारती और प्राचीन नाट्यसाहित्य के आधार पर अपने ढंग से प्रस्तुत किये गये। इन और ऐसे ही अन्य अंगों से संबंधित प्रश्नों को प्रयोग की आवश्यकताओं पर ध्यान देकर हल किया जा सकता है। किन्तु यह तब संभव है जब नाटकीय प्रयोगों के लिए अपेक्षित मंच को चिरंतन अतीत के मृत इतिहास का खिलौना न मान उसे युगीन उपलब्धियों के लिए भी उन्मुख और उदार माना जाए। इसके साथ ही रंगकर्मी भी अपनी चेतना को निर्ग्रन्थ बनाएं, जिनमें आग्रह की ग्रंथियां न हों। वे अभिनेता और प्रेक्षक तक ही सीमित नाट्यप्रयोग में स्वयं को उतारने का लोभ संवरण करें और प्रेक्षकों की टिप्पणियों को आदरपूर्वक सुनाना सीखें। कालिदास के रंगकर्मी सूत्रधार का भी कहना है—'विज्ञ जनों के परितोष के बिना नाट्यप्रयोग सफल नहीं माना जा सकता'—'आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानमु'—(शाकुंतला)। भरत द्वारा प्रति-पादित जर्जर विधान रंग के जिन विघ्नों को दूर करने के लिए है उनमें रंगकर्मियों की आन्तरिक ग्रंथियां भी हैं, नाट्यप्रयोग के पूर्व इन्हें भी जर्जरित कर लेना आवश्यक है। इसके बिना देखा गया है कि सार्वभौम प्रतिष्ठा के रंगकर्मी भी अपने प्रयोग प्रभावपूर्ण रूप में प्रस्तुत नहीं कर सके। विशेषतः प्राचीन संस्कृत-नाट्यकृतियों को कहा जाता है 'नाटकान्तं कवित्वम्'—'कवि की कसौटी है नाटक'। यह उद्‌बोधन जिस प्रकार नाटककार पर लागू होता है उसी प्रकार नाटक के अध्येता और प्रयोक्ता पर भी, क्योंकि संस्कृत में कवि का एक अर्थ विद्वान् भी है। ००

नाट्योत्सव १९८० के अन्तर्गत

नाट्यशास्त्र परिसंवाद (७ से ११ मार्च १९८०) में आमंत्रित विद्वान एवं रंगकर्मी

डॉ० ठाकुर जयदेव सिंह (वाराणसी)
डॉ० कुंजुनी राजा (मद्रास)
डॉ० विष्णुपद भट्टाचार्य (कलकत्ता)
डॉ० पी० एस० आर० अप्पाराव (हैदराबाद)
डॉ० प्रेमलता शर्मा (वाराणसी)
श्री जसवन्त ठाकर (अहमदाबाद)
श्रीमती शान्ता गांधी (बम्बई)
श्री गोवर्धन पांचाल (अहमदाबाद)
डॉ० सुरेश अवस्थी (दिल्ली)
डॉ० भानुशंकर मेहता (वाराणसी)
श्री राज्येश्वर मित्र (कलकत्ता)
श्रीमती मृणालिनी साराभाई (अहमदाबाद)
डॉ० गणेश हरि तारलेकर (धुलिया, महाराष्ट्र)
डॉ० काली कुमार दत्त (कलकत्ता)
श्री वासुदेव स्मार्त (वाराणसी)
श्री नेमिचन्द्र जैन (दिल्ली)
श्री नारायण पन्निकर (त्रिवेन्द्रम)
डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी (वाराणसी)
श्री कुमार राय (कलकत्ता)
डॉ० कमलेश दत्त त्रिपाठी (वाराणसी)
श्री अजितेश बैनर्जी (कलकत्ता)
डॉ० प्रभाकर माचवे (कलकत्ता)
श्री कल्याणमल लोढ़ा (कलकत्ता)
डॉ० रघुवंश (प्रयाग)
श्रीमती मीनाक्षी चालिहा (इम्फाल)

नाट्यशास्त्र में पूर्वरंग

□ डॉ० ठाकुर जयदेव सिंह

● प्राचीन समय में नाटक के प्रदर्शन में पूर्वरंग का विशिष्ट स्थान था। भरत के नाट्यशास्त्र में पूर्वरङ्ग का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। इसका वर्णन नाट्यशास्त्र के पांचवें, उनतीसवें और इकतीसवें अध्याय में बिखरा पड़ा हुआ है। यदि विस्तारपूर्वक इसका वर्णन किया जाय तो एक लघु पुस्तक तैयार हो जायगी। इस निवन्ध में इसके मूलभूत तत्वों का ही एक संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

पूर्वरंग का नामकरण और उद्देश्य

भरत ने पूर्वरङ्ग के नामकरण का निम्न कारण वतलाया है।

> यस्माद्रङ्गे प्रयोगोऽयं पूर्वमेव प्रयुज्यते।
> तस्मादयं पूर्वरङ्गो विज्ञेयो द्विजसत्तमाः॥ ना०शा० ५,७

यतः यह रङ्गमच पर नाटक के प्रयोग के समय सर्वप्रथम प्रयुक्त होता है अतः हे द्विजोत्तमो इसे पूर्वरंग कहते हैं।

आर्य संस्कृति की यह सामान्य प्रथा रही है कि किसी अच्छे कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व देव-देवी का हार्दिक स्तवन करना चाहिये जिससे वह कार्य निर्विघ्न पूर्वक सम्पन्न हो। पूर्वरङ्ग में नाट्यदेवता के स्तवन की विधि बतलाई गई है। एक तो इसका यह उद्देश्य था।

यह विधि पूर्ण रूप से संगीतमय थी। संगीत में नैसर्गिक आह्लादकारक गुण होता है और चित्त को आत्मनिष्ठ करने की क्षमता होती है। इसीलिए यज्ञ में भी साम का मधुर गान होता था। पूर्वरङ्ग में होने वाले श्रवण-मनोहर गायन-वादन और आकर्षक नृत्य के लिए सामाजिकों में उत्सुकता उत्पन्न करना यह दूसरा उद्देश्य था।

संगीतमय वातावरण के द्वारा सामाजिक का चित्त प्रयोज्य नाटक के प्रति समाहित हो जाय यह तीसरा उद्देश्य था। चौथा उद्देश्य था प्रेक्षक की हृदयग्रन्थि का भञ्जन। अभिनवगुप्त ने सच कहा है, "स्वगतक्रोध-शोकादिसंकटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादिप्रक्रिया च मुनिना विरचिता"। ना०शा०भा० १, पृ० २९१ अर्थात् प्रेक्षक के भीतर जो क्रोध

शोक इत्यादि की हृदयग्रन्थि है उनके भञ्जन के लिए भरत मुनि ने गीत इत्यादि की प्रक्रिया रची थी।

पूर्वरंग के अंग

पूर्वरङ्ग के १९ अंग हैं। इनमें से नव यवनिका (परदे) के पीछे रङ्गशीर्ष पर वीणा और भाण्डवाद्य (मृदंग) की संगति के साथ प्रस्तुत किये जाते थे। शेष १० यवनिका के हटाये जाने पर रङ्गपीठ पर नृत्य और पाठ्य का संयुक्त प्रयोग गीत और वाद्य के साथ प्रयुक्त किया जाता था।

परदे के पीछे प्रयुक्त नव अंग बहिर्गीत अथवा निर्गीत विधि कहलाते थे। बहिर्गीत अथवा निर्गीत का अर्थ है शुष्क अक्षर युक्त तंत्र और अवनद्ध वाद्यों के बोलों इत्यादि के निरर्थक गीत।

ये नव अंग निम्नलिखित होते थे।
१- प्रत्याहार, २- अवतरण, ३- आरम्भ, ४- आश्रावणा, ५- वक्त्रपाणि,
६- परिघट्टना, ७- संघोटना, ८- मार्गासारित, ९- आसारित।

इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१- प्रत्याहार

प्रत्याहार में कुतपविन्यास होता था। कुतप एक पारिभाषिक शब्द है। कुतप का अर्थ है गायक-गायिका और वाद्य-वृन्द। कुतपविन्यास का अर्थ है गायक वादकों को अपने वाद्यों के साथ निर्धारित स्थानों पर बिठाने की व्यवस्था। इसका क्रम इस प्रकार है। नेपथ्य द्वार पर पूर्व की ओर मुँह करके मृदंगवादक और उसके पार्श्व में पणव और दर्दुरवादक, उत्तर की ओर मुँह किये हुए गायक और उसी के आगे दक्षिण की ओर मुंह किये हुए गायिकाएँ बैठती हैं। गायक के बायीं ओर वेणुवादक बैठते हैं। मृदंगवादक के आगे वीणावादक बैठता है। इस प्रकार वाद्य-वादकों का नियत स्थान ग्रहण करना 'प्रत्याहार' है।

२- अवतरण

गायक और गायिकाओं को अपने नियत स्थान पर बैठाना 'अवतरण, कहलाता है।

कुतपस्य विन्यासः प्रत्याहार इति स्मृतः।
तथावतरणं प्रोक्तं गायकानां निवेशनम्॥ ना० शा० ५,१७

प्रत्याहार-अवतरण का रेखाचित्र

	१	२	३	
	५			
७		रंगशीर्ष		१०
६				९
४				८

१- मृदंग-वादक
२- पणव-वादक
३- दर्दुर-वादक
४- गायक
५- वीणावादक
६, ७ } वेणुवादक
८, ९, १० } गायिकाएँ

३- आरम्भ

यह बहिर्गीत का प्रारम्भ है। यह परिगीत प्रक्रिया कहलाती है। परिगीत का अर्थ है गानक्रिया के लिये कण्ठ के द्वारा आलाप आरम्भ करना।

४- आश्रावणा

पंचम अध्याय में भरत ने आश्रावणा के विषय में इतना ही कहा है :

"आतोद्यरञ्जनार्थन्तु भवेदाश्रावणाविधिः" ५,१८

अर्थात् वादन के पूर्व वाद्यों को मिलाकर एकरूपता लाना आश्रावणा विधि है। किन्तु २९वें अध्याय में जहाँ भरत ने निर्गीत विधि बतलाई है वहाँ आश्रावणा का विस्तृत रूप दिया है। वह इस प्रकार है :

विस्तार धातु के दो अक्षरों के बोल मंद्र और तार स्वरों के जोड़े में बजाकर देखना चाहिये।

उसको निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :
(१) स़ स़। सं सं। (२) सं सं। स़ स़। (३) स़ स़ स़। सं सं सं। (४) सं सं सं। स़ स़ स़।

इस प्रकार बजाने से वाद्यों का ठीक मिलान हो सकता है।

आश्रावणा को तीन खण्डों में करने का विधान है।

१ला खंड— इसमें शुष्क (निरर्थक) गीत में १, २, ११, १४, १५ और २४ ये छः अक्षर गुरु होंगे, शेष अक्षर लघु होंगे। सब मिलाकर २४ अक्षर होंगे। यह खंड इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता हैं :

SS IIIIIIIIS IISS IIIIIIIIS

२ रा खंड—इसमें पहले खण्ड के अनुसार लघु, गुरु मिलाकर २४ अक्षर होंगे।

३ रा खंड—इसमें कुल १५ अक्षर होंगे। ३, ८, १५ के अक्षर गुरु होंगे, शेष लघु। यह खण्ड इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :—

IIS II IIS II II IIS

पहले दो खण्डों का ताल चच्चत्पुट और तीसरे खंड का चाचपुट होना चाहिए। पहले दो खण्डों की लय द्विकल होगी और तीसरे खण्ड की एककल होगी। इसमें के अन्तिम तीन कलाओं का शीर्षक करना चाहिए।

इसके शुष्काक्षर (निरर्थक) गीत का भरत ने निम्न उदाहरण दिया है जो ताल सहित दिया जा रहा है।

प्रथम खण्ड ताल चच्चत्पुट

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
झं	टुं	ज	ग	ति	य	ब	लि	त	क	जं	बु	क	झं
श	श	ता	ता,	ता	ता	श	श,	ता	ता	श	ता,	सं	ता

१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
टुं	ति	ति	च	ल	घु	च	ति	ति	चा
श	ता,	श	ता	सं	श;	ता	श	ता	श

इसमें 'श' = शम्या; ता=ताल; सं=सन्निपात

द्वितीय खण्ड — ताल चच्चत्पुट

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
दिग्	ले	ग	ण	प	ति	प	शु	प	ति	जं	बु	क	दिग्

१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
ले	ब	र	मु	ज	दि	गि	न	गि	चा

इसका शम्या, ताल इत्यादि प्रथम खण्डवत् होगा।

तृतीय खण्ड—ताल चाचपुट

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५
ति	ति	चा	दि	नि	नि	गि	चा	प	शु	प	ति	नि	ति	चा
श	श	श	ता	ता	ता,	श	श	ता	ता	श	ता	सं	—	—

श = शम्या,　　ता = ताल,　　सं = सन्निपात

शम्या का अर्थ है दाहिने हाथ से बाएं हाथ पर ताली मारना।
ताल का अर्थ है बाएं हाथ से दाहिये हाथ पर ताली मारना।
सन्निपात का अर्थ है दोनों हाथों से सामने की ओर ताली मारना।

चच्चत्पुट ताल चतस्र जाति का है। इसकी कुल ८ मात्राएं होती हैं। यह निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :—

चच्चत्पुट—चतस्र जाति

१	२	३	४	५	६	७	८
ऽ	.	ऽ	.	।	ऽ'	.	.

ऽ = गुरु (दो अक्षर) : । = लघु (एक अक्षर) : ऽ' = प्लुत (तीन अक्षर)

चाचपुट ताल त्र्यस्र जाति का है। इसकी कुल ६ मात्राएं होती हैं। यह निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :—

चाचपुट अथवा चंचुपुट = त्रयस्र जाति

१	२	३	४	५	६
ऽ	-	।	।	ऽ	-

भरत ने २९ वें अध्याय में यह बतलाया है कि आश्रावणा विधि के अनन्तर एक आरम्भ विधि भी होती है। इसमें वीणा का तीन खण्डों में वादन होता है। इनका विस्तृत वर्णन संगीत रत्नाकर में मिलता है।

१— तल धातु प्रकार। यह व्यंजन धातु का एक भेद है।

२— रिभित धातु प्रकार। यह करण धातु का भेद है। आधुनिक ढंग के अनुसार इसके बोल होंगे 'दि ड दा'।

३—ह्लाद धातु प्रकार। यह भी करण धातु का एक भेद है। आधुनिक ढङ्ग के अनुसार इसके बोल होंगे दिड दिड दिड दिड दा। इस प्रकार इसमें १० मात्रा के बोल होते हैं।

प्रथम खण्ड में ८ गुरु, १२ लघु, ५ गुरु इस प्रकार २५ अक्षरों का शुष्क गीत होता है।

द्वितीय खण्ड में ८ लघु, १ गुरु, ४ लघु, १ गुरु, ४ लघु, १ गुरु इस प्रकार १९ अक्षरों का शुष्क गीत होता है।

तृतीय खण्ड में ८ लघु और १ गुरु — इस प्रकार ९ अक्षरों का शुष्क गीत होता है।

५—वक्त्रपाणि

यह विधि दो खण्डों की है। संगीत रत्नाकर के अनुसार वे खण्ड इस प्रकार हैं:—

प्रथम खण्ड — ५ गुरु, ६ लघु, ६ गुरु, २ लघु = कुल १९ अक्षर
द्वितीय खण्ड— ४ गुरु, ३ लघु, १ गुरु, ८ लघु = कुल १६ अक्षर

६—परिघट्टना

तन्त्री वाद्य की तन्त्री के घट्टन या घर्षण के द्वारा वृत्तियों के विभागों में शुष्क अक्षर प्रयोग का अन्वेषण परिघट्टना है।

शार्ङ्गदेव का कहना है इसमें करण धातु के भेद चित्रित, ललित, सुकुमार, स्निग्ध, मिश्रित करलाघव से वीणा के तार बजाये जाते हैं। इसके शुष्क गीत में ८ गुरु, २४ लघु, २ गुरु, १६ लघु और अन्त में १ गुरु अक्षर होते हैं।

७—संघोटना (संखोटना)

वीणा वाद्य में अवनद्ध जैसे तालात्मक वाद्यों के साथ संगत बैठाने के लिये संवादी स्वरों के अनुसन्धान के द्वारा पंच प्रहारों का प्रयोग करते हुए सुनना संघोटना कहलाता है।

संगीत रत्नाकर के अनुसार इसमें शुष्काक्षरों का गीत इस प्रकार का होता है :—
१ गु०, ८ ल० २ गु०, १ ल०, १ गु०, १२ ल०, १ गु०

८—मार्गासारित

वीणा आदि तत वाद्यों के साथ अवनद्ध वाद्यों का वादन मार्गासारित कहलाता है। संगीत रत्नाकर के अनुसार मार्गासारित विधि का शुष्काक्षर गीत निम्न प्रकार का होता है :—
४ गु०, ८ ल०, २ गु०, ८ ल०, १ गु०, १ ल०।

इस प्रकार के तीन खण्ड होते हैं।

इसके अनन्तर भरत ने नाट्यशास्त्र में २९ वें अध्याय में लीलाकृत विधि का उल्लेख किया है। लीलाकृत के विषय में भरत ने इतना ही लिखा है :—

श्रवणमधुराणि लीलाकृतान्यभिसृत परिसृतान्तरकृतानि।
तान्यप्यर्थवशादिह कर्तव्यानि प्रयोगविधौ ॥ २९, १११

अर्थात् सुनने में मधुर अभिसृत और परिसृत लीलाकृत का गान प्रयोजन के अनुसार करना चाहिए। अभिसृत और परिसृत गान अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में और सिंहभूपाल ने संगीत रत्नाकर की सुधाकर टीका में इस प्रकार बतलाया है।

वार्तिक मार्ग में षड्जग्राम की जातियों में उपनिबद्ध-गीत आसारित ताल के योग द्वारा गीयमान अभिसृत' कहलाता है। मध्यमग्राम के जात्यंशों में जो गीत उपनिबद्ध होता है, वह 'परिसृत' कहलाता है।

९- आसारित

ये भी शुष्काक्षर के गीत होते थे। साधारणत: शम्या आदि क्रियाओं के द्वारा कलाओं के पतन काल की गिनती करना 'आसारित' कहलाता है। किन्तु आसारित विधि उस शुष्काक्षर गीत को कहते हैं जो कनिष्ठ, मध्यम और ज्येष्ठ तीन प्रकार के ताल में गाये जाते हैं।

उपर्युक्त ९ विधियां यवनिका (परदे) के पीछे होती हैं। इस अवस्था में प्रेक्षकगण शान्तभाव से आगे के कार्यक्रम की प्रतीक्षा करते हैं। उनकी इस उत्कण्ठित अवस्था में परदा उठता है और अब रंगपीठ पर नाटक का प्रारम्भिक कार्यक्रम प्रस्तुत होता है।

१०- गीतविधि

यह गीतविधि वर्धमान प्रक्रिया से प्रारम्भ होती है। इसमें देवताओं की प्रशंसा में प्रस्तुत किये हुए गान होते हैं। वर्धमान का अर्थ है 'बढ़ते हुए जाना'। पहले रङ्गभूमि पर एक नर्तकी हाथ में पुष्प लिए हुए नाचती हुई आती है। यह गीत का प्रथम चरण गाती है और नाचती हुई उसके भाव का अभिनय करती है। इसके अनन्तर वह पीछे जाती है। अब दूसरी नर्तकी पहली की तरह हाथ में पुष्प लिये हुए रङ्गभूमि पर जाती है। वह देवताओं को प्रणाम कर गीत का दूसरा चरण गाती है और अब पहली और दूसरी मिलकर रङ्गभूमि पर नाचती हैं, अभिनय करती हैं और पीछे जाती हैं। तदनन्तर तीसरी नर्तकी हाथ में पुष्प लिये हुए रङ्गभूमि पर आती है और गीत का तीसरा चरण गाती है। अब तीनों मिलकर नाचती हैं और अभिनय करती हुई पीछे जाती हैं। इसके

अनन्तर चौथी नर्तकी पूर्ववत् हाथ में पुष्प लिये हुए रङ्गभूमि पर आती है और गीत का चौथा चरण गाती है। चारों मिलकर नाचती और गीत का अभिनय करती हुई वापस जाती हैं।
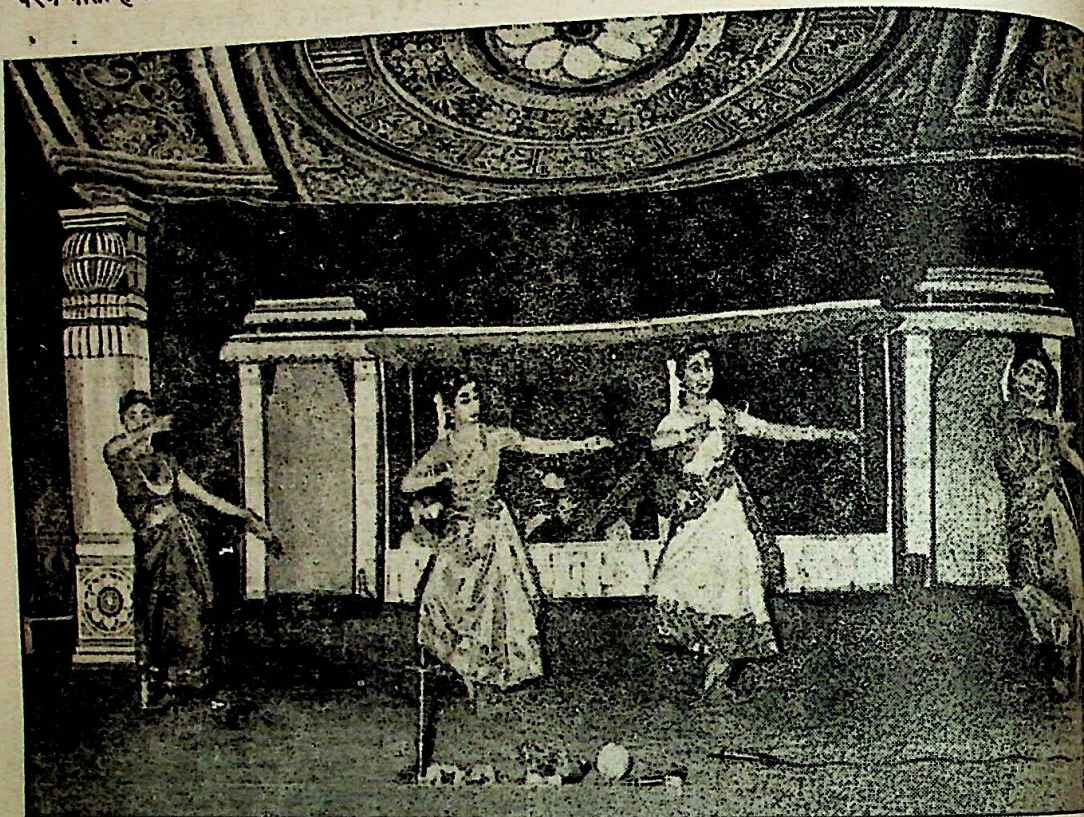
भवभूति-कृत उत्तररामचरितम् के नाट्य-प्रयोग (अभिनय भारती, वाराणसी, १९७८) से पूर्वरंग की गीतविधि दृश्य में अलका गुप्त, चित्रा चन्द्रशेखर, लयलीना भट्ट और श्यामली दास। संगीत एवं निर्देशन : डॉ० प्रेमलता शर्मा; नृत्य : को० वें० चन्द्रशेखर; रङ्गमण्डप : वासुदेव स्मार्त।

इस विधि में एक-एक नर्तकी बढ़ती जाती है, गीत का एक-एक चरण बढ़ता जाता है। प्रत्येक नर्तकी को नाचने की लय भी अनुक्रम से बढ़ती जाती है। इसलिये इस बढ़ने वाली विधि को 'वर्धमान विधि' कहते हैं।

वर्धमान गीत की रचना भरत ने ३१वें अध्याय में विस्तारपूर्वक बतलाई है।

११- उत्थापन विधि

गीतविधि के अनन्तर उत्थापन विधि प्रारम्भ होती है। भरत कहते हैं :—

> यस्मादुत्थापयन्त्यत्र प्रयोगं नान्दिपाठकाः।
> पूर्वमेव तु रंगेऽस्मिंस्तस्मादुत्थापनं स्मृतम्॥ ना०शा० ५,२२

यतः यह विधि नान्दी-पाठकों द्वारा सर्वप्रथम रङ्गमंच पर कार्य प्रारम्भ करवाती है, अतः इसे 'उत्थापन विधि' कहते हैं। इसमें एक विशिष्ट वृत्त गीत चतस्र तिस्र ताल में और विलम्बित, मध्य और द्रुत लय में गायक-वृन्द द्वारा गाया जाता है। मध्यलय में गान चलते रहने पर सूत्रधार रङ्गभूमि पर आता है। उसके दोनों ओर पारिपार्श्विक रहते हैं। उनमें से एक के हाथ में जर्जर होता है और दूसरे के हाथ में भृंगार (सोने की सुराही)। जर्जर १०८ अंगुल लम्बा ५ पोर के बांस का एक दंड (डंडा) होता है। इसके बिल्कुल नीचे का पोर भिन्न प्रकार के रंगों के वस्त्र से लपेटा हुआ रहता है। नीचे से दूसरा पोर लाल, तीसरा पीले, चौथा नीले और सबसे ऊपर का पोर श्वेत रंग के वस्त्र से लपेटा रहता है। इसके ऊपर के भाग पर तीन जगह वक्र-दण्ड-काष्ठ रहते हैं। इनके ऊपर बेल फल को काटकर तैयार किये हुए मनुष्य की मुखाकृति मुकुट से अलंकृत कर रखी हुई रहती है।

सूत्रधार और दोनों पारिपार्श्विक एक साथ ही रङ्गमंच पर प्रवेश करते हैं। इनकी हस्ताञ्जलियां पुष्पों से पूरित होती हैं। वे अद्भुत दृष्टि और वैष्णवस्थान से युक्त होते हैं।

अद्भुत दृष्टि का वर्णन भरत ने ८वें अध्याय के ४८वें श्लोक में इस प्रकार किया है। जिस दृष्टि में बरौनियाँ नोक पर थोड़ी सिकुड़ी हुई रहें, पुतलियाँ आश्चर्य से ऊपर की ओर उठी हुई रहें और आँखें विकसित दशा को सुन्दर रीति से प्रदर्शित करें वह 'अद्भुत' दृष्टि है।

वैष्णव स्थान का वर्णन भरत ने ११वें अध्याय के ५२-५३ श्लोकों में इस प्रकार किया है।

यदि दोनों पैर ढाई ताल के अन्तर पर रक्खे जांय, इन पैरों में एक पैर समुत्थित खड़ा और दूसरा टेढ़ा और बगल में स्थित जंघा थोड़ी झुकी हुई हो और एड़ी भी तिरछी हो, शरीर के सभी अवयव सौष्ठवयुक्त हों तो यह स्थिति "वैष्णवस्थान" कहलाती है।
(ताल = १२ अंगुल की दूरी)

सूत्रधार दोनों पारिपार्श्विकों के साथ पाँच डग भरते हुए आगे बढ़ता है। गायक-वृन्द द्वारा गीत चालू रहता है। गीत का प्रारम्भ विलम्बित लय में होता है। यह प्रथम परिवर्त कहलाता है। जब वह मध्य लय में होता है तो द्वितीय परिवर्त कहलाता है। इसी समय सूत्रधार रङ्गमञ्च पर आता है और गीत को द्रुत लय में गाकर तीसरा परिवर्त पूरा करता है। सूत्रधार रङ्गमञ्च के मध्य भाग में अधिष्ठित ब्राह्ममण्डल पर पुष्पांजलि अर्पित करता है। फिर वह ब्रह्मा की विनीत भाव से ललित हस्त मुद्रा से वन्दना करता है। यह वन्दना पृथ्वी को हाथों से तीन बार स्पर्श करते हुए की जाती है।

तीसरे परिवर्त में सूत्रधार ब्राह्मण्डल की प्रदक्षिणा करता है, आचमन करता है और जर्जर को ग्रहण करता है। यह जर्जर इसलिये कहलाता है क्योंकि यह विघ्नों को जर्जरित कर देता है। यह तृतीय परिवर्त भी द्रुतलय में होना चाहिए। जर्जर ग्रहण करने के पश्चात् वह संगीत-वाद्यों के स्थान की ओर पांच डग चलता है। यह चतुर्थ परिवर्त भी द्रुत लय में होता है। इस प्रकार उत्थापन विधि समाप्त हो जाती है। इस विधि में गीतकों और वर्धमानक के पश्चात् उत्थापिनी ध्रुवा गाई जाती है।

उत्थापिनी ध्रुवा के पाद में ११ अक्षर होते हैं। उसमें आदि के दो, चौथा, आठवां और ग्यारहवां अक्षर गुरु होता है। उसका क्रम इस प्रकार है :— SSI SII IS IIS इसके चार पाद होते हैं और वह चतुरस्र अर्थात् चच्चत्पुट ताल में गाई जाती है। इसमें चार सन्निपात और तीन प्रकार की (द्रुत, मध्य, विलम्बित) लय होती है। यह तीन यतियों (समा, स्रोतोवहा और गोपुच्छा) से युक्त होती है। इसमें चार परिवर्त और तीन पाणि (सम, अवर और उपरिपाणि होती हैं। इसमें विश्लोक छन्द होता है।

१२ - परिवर्तन

अब परिवर्तन विधि प्रारम्भ होती है।

> यस्माच्च लोकपालानां परिवृत्य चतुर्दिशम्।
> वन्दनानि प्रकुर्वन्ति तस्माच्च परिवर्तनम्॥ ना० शा० ५,२३

लोकपालों की चारों ओर घूमकर वन्दना करना 'परिवर्तन' कहलाता है। इस विधि में परिवर्तनी ध्रुवा गाई जाती है।

परिवर्तनी ध्रुवा चतुरस्रताल, मध्यलय और ८ सन्निपातों से युक्त होती है। इसमें अतिजगती जाति का (एकादश अक्षर का) छन्द रहता है। इसका अन्तिम वर्ण गुरु होता है, और चारों पादों में शेष सभी वर्ण लघु रहते हैं। इस ध्रुवा में मात्राओं की गणना इस प्रकार है :—

SSIS IIIS IS IIISS

इस परिवर्तनी ध्रुवा की गान-वेला में सूत्रधार वाद्यध्वनि और ताल के अनुसार ललित पादविन्यास करते हुए यथाक्रम दिशाओं के अधिपतियों को नमस्कार करता है।

परिवर्तनी ध्रुवा के समाप्त होने पर, एक चौथा पात्र अंजलि में पुष्प लिए हुए मंच पर प्रवेश करता है। फिर वह जर्जर सभी वाद्यों और सूत्रधार का पूजन करता है। इसके अनन्तर वह रङ्गमञ्च से प्रस्थान करता है।

इसके अनन्तर अवकृष्टा ध्रुवा का गान होता है। यह चतुरस्र ताल और विलम्बित लय में गाई जाती है। इस ध्रुवा में मात्राओं की गणना इस प्रकार है :—

। । ऽ   । । ऽ   । । ऽ । ऽ   । । । ऽ ऽ

१३ - नान्दी

उपर्युक्त ध्रुवा के अनन्तर सूत्रधार मध्यम स्वर से नान्दी पाठ करता है। इसमें वह देवताओं को नमस्कार करता है और राजा और गो-ब्राह्मण के लिये कल्याण की कामना करता है। नान्दी ८ या १२ पद वाली होती है।

१४ - शुष्कावकृष्टा

नान्दी के अनन्तर जर्जर की स्तुति के 'शुष्कावकृष्टा' ध्रुवा का गान होता है। इसको 'शुष्कावकृष्टा' इसलिये कहते हैं क्योंकि शुष्क अर्थात् अर्थहीन अक्षरों का प्रयोग है। इसमें आदि के ९ वर्ण गुरु, फिर ६ वर्ण लघु और अन्तिम ३ वर्ण गुरु होते हैं।

इसका निम्नलिखित उदाहरण है :—

दि	ग्ले	दि	ग्ले	भ्म	ष्टू	भ्म	ष्टू
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ

ज	म्बु	क	प	लि	त	क़	ते	ते	चाम्
ऽ	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ	ऽ

१५ - रंगद्वार

भरत ने रंगद्वार का वर्णन इस प्रकार किया है।

यस्मादभिनयस्त्वत्र प्रथमं ह्यवतार्यते।
रंगद्वारमतो ज्ञेयं वाङ्गाभिनयात्मकम्॥ ना० शा० ५,२६

यतः पहले पहल वाचिक और आंगिक अभिनय की अवतारणा यहीं से होती है अतः वाचिक और आंगिक अभिनय से संयुक्त इस अंग को रङ्गद्वार कहते हैं।

रङ्गद्वार में सूत्रधार देव, राजा और ब्राह्मण का स्तुतिपरक श्लोक पढ़ता है। वह जर्जर श्लोक के पाठ के पश्चात् पुनः जर्जर के यशप्रकाशक एक दूसरे श्लोक का पाठ करता है।

इसके उपरान्त जर्जर को प्रणाम किया जाता है और तब चारी प्रदर्शन प्रारम्भ होता है इसके उपरान्त अड्डिता और दोनों पारिपार्श्विक रङ्गमञ्च से निष्क्रमण कर जाते हैं। इसके उपरान्त अड्डिता ध्रुवा का गान प्रारम्भ होता है जो कि मध्य लय चतुरस्र ताल और चार सन्निपातों से युक्त होता है।

१६ - चारी

अड्डिता ध्रुवा का चारी के साथ प्रयोग होता है। चारी का वर्णन भरत ने इस प्रकार दिया है।

भृंगारस्य प्रचरणाच्चारी सम्परिकीर्तिता।

अर्थात् शृङ्गार रस के भावों को गति द्वारा प्रदर्शित करना चारी कहलाता है। अड्डिता ध्रुवा के निबन्धन के विषय में भरत का निम्न श्लोक है।

"आद्यमन्त्यं चतुर्थं च पञ्चमं च तथा गुरु।
यस्यां ह्रस्वानि शेषाणि सा ज्ञेया त्वड्डिता बुधैः॥" ना० शा० ५,११९

अड्डिता ध्रुवा में प्रथम, पंचम और अन्तिम वर्ण गुरु होते हैं और शेष वर्ण ह्रस्व होते हैं। इसके चारों पादों में बारह वर्ण होते हैं।

अड्डिता ध्रुवा की मात्राओं का क्रम इस प्रकार है—
SIS IIS II II IS

अब जर्जर को सूत्रधार पारिपार्श्विक हाथ में देकर महाचारी प्रस्तुत करता है।

१७ - महाचारी

महाचारी का वर्णन भरत ने इस प्रकार किया है :—

"रौद्रप्रचरणाच्चापि महाचीरीति कीर्तिता"।

रौद्ररस के भावों को गति द्वारा प्रदर्शित करना महाचारी कहलाता है। इसमें चतुरश्रा ध्रुवा का गान होता है। चतुरश्रा ध्रुवा में चतुरस्र ताल और द्रुत लय का प्रयोग होता है। इसमें ४ सन्निपात और ८ कलाएं होती हैं। इसका प्रत्येक पाद ११ अक्षर का होता है जिसमें प्रथम, चतुर्थ, सप्तम, दशम और अन्तिम वर्ण गुरु होता है। शेष वर्ण लघु होते हैं।

इसके मात्राओं का क्रम इस प्रकार है :
SIIS IIS IISS

सूत्रधार पुनः एक रौद्ररसप्रचुर श्लोक का पाठ करता है। इसके पश्चात् तीन डग आगे बढ़ते हुए वह अपने दो पारिपार्श्वकों को बुलाता है। जब ये दोनों आ रहे हों उस समय नर्कुट ध्रुवा का ज्ञान होता है। नर्कुट ध्रुवा समवेत गान होता है।

१८ - त्रिगत

महाचारी के अनन्तर त्रिगत प्रारम्भ होता है। त्रिगत उसे कहते हैं जिसमें सूत्रधार, पारिपार्श्विक और विदूषक का संजल्प हो।

इसमें विदूषक बहुत-सी हंसाने वाली बातें करता है, और नाटक की कथावस्तु को आगे बढ़ाने वाले प्रश्नों का प्रयोग करता है। इसके अनन्तर प्ररोचना विधि प्रारम्भ होती है।

१९ - प्ररोचना

इसमें सूत्रधार प्रेक्षकगण को आमंत्रित करता है और खेले जाने वाले नाटक की विषयवस्तु का निरूपण करता है। इसके अनन्तर तीनों रङ्गमञ्च से चले जाने हैं।

यहां तक चतुरश्र प्रकार के पूर्वरङ्ग का वर्णन हुआ। त्र्यश्र पूर्वरंग भी होता है। दोनों में ताल का भेद होता है। और सब बातें वैसी ही होती हैं। पूर्वरंग का एक प्रकार और है जिसे चित्र पूर्वरङ्ग कहते हैं। इसमें नृत्त की विशेषता होती है और पिण्डीबन्ध, रेचक और अङ्गहारों का प्रचुर प्रयोग होता है।

पूर्वरङ्ग के समाप्त होने पर रङ्गमञ्च पर स्थापक प्रवेश करता है। उस समय अर्थानुगामिनी ध्रुवा मध्य लय में गाई जाती है। तब स्थापक नाटक की कथावस्तु को निर्दशित करने वाली 'प्रस्तावना' प्रस्तुत करता है।

पूर्वरंग का महत्व

भरत ने पूर्वरङ्ग के महत्व को इस प्रकार वर्णन किया है।

> "य इमं पूर्वरंग तु विधिनैव प्रयोजयेत्।
> नाशुभं प्राप्नुयात्किंचित्स्वर्गलोकं च गच्छति॥" ना०शा० ५,१७७

जो नाटक प्रयोक्ता पूर्वरङ्ग का विधिवत् प्रयोग करता है उसका कोई अनिष्ट नहीं होता और अन्त में वह स्वर्गलोक प्राप्त करता है। ००

नाट्योत्सव १९८० के अन्तर्गत
नाट्यशास्त्र परिसंवाद कार्यक्रम
(७ से ११ मार्च १९८०)

शुक्रवार ७ मार्च १९८०	
सायं ६-३० से ७-३०	रङ्गपूजन एवम् उद्घाटन
रात्रि ७-३० से ९-००	नाट्यशास्त्र की विषयवस्तु एवं ऐतिहासिक विकास का विवेचन
शनिवार ८ मार्च १९८०	
अपराह्न ३ से ५	नाट्यशास्त्र की आधुनिक प्रासंगिकता
सायं ५-३० से ८-३०	नाट्य-गृह निर्माण
रविवार ९ मार्च १९८०	
प्रातः १० से १	नाट्यशास्त्र में संगीत विधान
अपराह्न २॥ से ५॥	नाट्यशास्त्र में नृत्य विधान
सोमवार १० मार्च १९८०	
सायं ६-३० से ९	अभिनय का स्वरूप एवं विभिन्न रूढ़ियाँ
मंगलवार ११ मार्च १९८०	
प्रातः १० से १ एवम् अपराह्न २-३० से ५-३०	आधुनिक रंगमंच पर संस्कृत नाटक
रात्रि ७ से ८-३०	समापन समारोह

नाट्यशास्त्र परिसंवाद में भाग लेने वाले अन्य विद्वान, रंगकर्मी एवं प्रेक्षक

श्री शिवकुमार जोशी
श्री रतन थियम (इम्फाल)
श्री विष्णुकान्त शास्त्री
श्री शमीक बंद्योपाध्याय
श्री एवं श्रीमती तापस सेन
डॉ० धर्मवीर भारती
श्रीमती रानी करना
श्रीमती मंदाक्रांता बोस
डॉ० प्रतिभा अग्रवाल
श्रीमती जयती घोष
श्री विमल लाठ
श्री कन्हैयालाल नन्दन
श्रीमती रविप्रभा बर्मन
श्री मनमोहन ठाकोर
श्री कृष्णकुमार
एवं अन्य

भारतीय भाषा परिषद
के सहयोग से परिषद-सभागार,
३६, शेक्सपीयर सरणी, कलकत्ता-१७
में आयोजित

रस का मञ्चोपस्थापन

□ पं० रेवाप्रसाद द्विवेदी

● भरत मुनि के अनुसार 'नाटक' या 'नाट्य' है "इस संपूर्ण त्रैलोक्य का भावात्मक अनुकीर्त्तनम्" "त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम्"। ना० शा० १। कीर्त्तन का अर्थ है कलात्मक प्रस्तुति। देवकुल या मन्दिर आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। अतएव बाणभट्ट दिग्विजयी राजा द्वारा कीर्तिमान के रूप में स्थापित जयस्तम्भ या देवमन्दिर आदि को "कीर्त्तन" कहते हैं—"कारयन् कीर्त्तनानि"। कलात्मक प्रस्तुति शब्दात्मक भी हो सकती है और क्रियात्मक भी। क्रियात्मक प्रस्तुति मूर्ति और चित्र में जड़ और नाट्य में सजीव होती है। अनुकरणात्मक प्रस्तुति हैं "अनुकीर्त्तन। अनु अर्थात् प्रतिबिम्बन। जिस प्रस्तुति में प्रतिबिम्बात्मकता हो अर्थात् हूबहू प्रस्तुति या मञ्चोपस्थापन उसे माना जाएगा "अनुकीर्त्तन"। अनुकीर्त्तन में भावात्मकता दोनों ही प्रकार से आएगी—स्थूलता के अभाव से और मानसिक भावों की प्रस्तुति से। नाट्योपस्थिति में राम या रावण दोनों मानसिक होते हैं अर्थात् वे उस रूप में समझे भर जाते हैं, होते नहीं, अतः मञ्चोपस्थापन या नाट्योपस्थिति का स्थूल भी मनोभावात्मक है। इस स्थूल में दृश्य क्रिया निहित मनोभावों का द्योतन करती है। राग-विराग घृणा-द्वेष आदि की सूचना देती है, अतः मनोभावात्मक स्थूल के भीतर मनोभावात्मक सूक्ष्म की सृष्टि या उसकी अनुप्रस्तुति निहित रहती है। वस्तुतः इसी सूक्ष्म मनोभाव या चित्रवृत्तियों की प्रस्तुति होती है प्रयोजन नाट्य या किसी भी कला का। भरत ने इस तथ्य को "काव्यार्थ" कहा और माना कि "रस ही है काव्यार्थ"—रसः काव्यार्थः। अभिनव भारती-६। निष्कर्ष यह है कि भरत के अनुसार रस ही है नाट्योपस्थिति का मुख्य प्रयोजन। ठीक भी है। संसार में प्रत्येक स्पन्द (एक्शन) की गतिमत्ता (एक्टिवनेस) और सन्तति (कण्टिन्युटी) रस पर ही निर्भर रहती है—"न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते" (ना० शा० - ६)। रस के अभाव में या तो कोई कार्य आरम्भ नहीं होता या आरम्भ होकर चल नहीं पाता। प्रस्तुत में "रस" अर्थात् मनोभावों की की प्रस्तुति के अभाव में या तो नाट्योपस्थापन किया नहीं जाता या देखा नहीं जाता।

इस "रस" के नाट्योपस्थापन के लिए करना क्या चाहिए या किया क्या जाना चाहिए? भरत का उत्तर है—"लोक के साथ तादात्म्य" किन्तु "किंचित् अतिशय के साथ"—"रूपकं तत्समारोपः"। यह अतिशय वाणी में कथोपकथन की आकर्षकता है और दृश्यता में रूप की। इन्हीं को भरत ने आहार्य (वस्त्र, परिधान, नेपथ्य का) अभिनय और वाचिक (आरोहावरोहयुक्त भावानुरूप ललित, मसृण, प्रभावी भाषा का) अभिनय कहा। वस्त्र आदि के अभिनय में अतिशय आती है सहजता (स्वभाव) के ऊपर

टिकी प्रभावकता (इफेक्टिवनेस) से। नाट्योपस्थिति में पोशाक और परिधान हो तो वे ही जो लोक में काम में आते हैं, परन्तु उनमें भव्यता या आकर्षकता अवश्य ही रहनी चाहिए। भव्यता की व्याख्या देश और काल के आधार पर की जानी चाहिए। अतः लोकदर्शी तथा युगदर्शी नाट्यकार या अभिनेता भव्यता की व्याख्या में स्वतंत्र है। वाणी के अतिशय या वाचिक अभिनय की आकर्षकता के लिए भरत ने बलाघात (एक्सेन्चुएशन) या काकु की सूक्ष्मताओं का पालन आवश्यक माना है। इसके लिए भी नाट्यकार या अभिनेता को लोकदर्शी ही होना चाहिए। और इसीलिए पात्रों के चयन और भाषा या भाषाओं की योजना में सजग रहना चाहिए। स्मरणीय है भरत नाट्य को साहित्य नहीं क्रिया मानते हैं और इसीलिए नाट्य का अस्तित्व केवल वर्तमान तक सीमित रहता है। शास्त्रीय भाषा में उसे केवल साध्यावस्थापन्न कहा जा सकता है। इसलिए भाषाई अनुकृति में वर्तमान भाषाएं अधिक उपयोगी ठहरती हैं। किन्तु समाज का एक अंग अतीत से भी जुड़ा रहता है और उसके साथ परंपरागत संस्कार, रुचि और दर्शन रहते हैं। नाट्य में सभी समाराधन आवश्यक है अतः किसी भी नाट्य की भाषा भरत के मत में एक या एक सी नहीं हो सकती और इसीलिए नाट्यकार को लोक से जुड़ने के लिए प्रत्येक पात्र की अपनी भाषा के उपयोग के लिए उदार होना चाहिए।

चेष्टाओं के अभिनय में भरत के अनुसार पात्रों को अपने अभिनय भाव से समरस हो जाना चाहिए, तब उसके अनुरूप चेष्टाएं अपने आप होने लगती हैं। जैसे क्रोधावेश में उसके ओंठ फड़कने लगते हैं। नृत्य और नृत्त का किंचित् अभ्यास चेष्टाओं के अभिनय में सहायक होता है और इसलिए नट को नर्त्तक या नर्त्तक को नट कह दिया जाता है।

अभिनेय वस्तु के साथ समरस होते ही पसीना या अश्रुपात आदि प्रायः होने लगते हैं और इस प्रकार आंगिक और सात्विक अभिनयों की आवश्यकता अपनी पूरी सचाई में पूर्ण हो जाती है।

भरत ने इन चारों स्थितियों को चार प्रकार के अभिनय के रूप में अपनाया है और इन्हें "आंगिक अभिनय, वाचिक अभिनय, आहार्य (वेश-भूषात्मक) अभिनय तथा सात्विक (रोमांचक आदि) अभिनय कहा है। नट को इन चारों में कुशल होना चाहिए। और इसीलिए स्त्रीपात्रों का कार्य स्त्रियों एवं पुरुष पात्रों का पात्र पुरुषों को ही करना चहिए। शृंगार के अभिनय के लिए इसीलिए भरत ने ब्रह्माजी से अप्सराएं प्राप्त कीं (ना० शा० १)

उपर्युक्त चार प्रकार के अभिनयों से अभिनेता प्रेम (रति), शोक, हास, भय, क्रोध, उत्साह, विस्मय, जुगुप्सा और शान्ति की अनुकृति या अनुकीर्त्तन इनकी पूर्णता के साथ

करता है। प्रेक्षक उसके या उसके भावों के साथ एकरस हो जाता है। यही है नाट्य में रस और उसका अभिनय।

प्रेम आदि की अभिव्यंजना में लज्जा आदि की व्यञ्जना भी अपेक्षित होती है। इन सहयोगी व्यंजनाओं के लिए अभिनेता या नाट्यकर्मी का स्वयं जागरूक रहना अधिक उपयोगी होता है और इसीलिए भरत ने रचना (स्क्रिप्ट) में किसी प्रकार के रंग निर्देश की कोई शिक्षा नहीं दी है। संस्कृत के नाटकों में रंगनिर्देश इसीलिए बहुत ही कम रहते हैं।

मंच पर प्रत्येक बाह्य वस्तु का प्रस्तुत करना संभव नहीं अतः कुछ वस्तुओं की प्रस्तुति सांकेतिक ढंग से भी हो सकती है। विज्ञ प्रेक्षक केवल सकेत से भी बहुत कुछ समझ लेते हैं अतः उनके लिए मंच पर उन वस्तुओं को भी सांकेतिक रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है जिनका भौतिक रूप में भी प्रस्तुत किया जाना संभव होता है। शाकुन्तल में शकुन्तला पर भौंरा टूटता है, मंडराता है। विज्ञ प्रेक्षकों के लिए भ्रमर बाधा की सूचना और उसके अनुरूप चेष्टाएं ही पर्याप्त हो सकती हैं। सिनेमा और नाटक में यही अन्तर है। किन्तु यह संभव नहीं कि ऋतु, माल्य, अलंकार, उपवन आदि को भी केवल सूचना द्वारा प्रस्तुत किया जा सके। उनके लिए मंच पर आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करनी होती है। भरत मुनि ने इन दोनों स्थितियों को नाट्यधर्म और लोकधर्म कहा है। सांकेतिक वस्तुएं नाट्यधर्म और अपरिहार्य अन्य वस्तुएं लोकधर्म। नाट्यधर्मी वस्तुएं लोकधर्मी वस्तुओं के रूप में भी प्रस्तुत की जा सकती हैं और वैसा करना अधिक प्रभावी होता है। नाट्य में केवल सांकेतिकता पर्याप्त नहीं। तब वह काव्य हो जाता है। लोकधर्मिता ही है नाट्य को काव्य से अलग करने वाला तथ्य। लोकधर्मिता के साथ ही नाट्य में चित्र, मूर्ति और वस्तु कलाएं भी जुड़ जाती हैं। इस प्रकार भरत के अनुसार नाट्योपस्थान संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति, वस्तु और काव्य इन सभी कलाओं का "समिश्र" है। कालिदास ने इसीलिए नाट्य को विभिन्न रुचि के विभिन्न व्यक्तियों से बने समाज का सर्वांगीण समाराधन कहा है. 'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्' (मालविकाग्निमित्र—१)

प्रेम आदि की उपस्थापना में अपेक्षित उपर्युक्त सामग्री को भरत ने 'विभाव, अनुभाव और संचारी' कहा है। विभाव है शकुन्तला आदि पात्र और नदी तट, ऋतु आदि का वातावरण, अनुभाव है पात्रों की प्रेम या लज्जा आदि को व्यक्त करने वाली चेष्टाएं और संचारी है लज्जा आदि भाव। अभिनय में या मंच पर इन तीनों का ठीक से योग होते ही प्रेम आदि का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यही है विभाव-अनुभाव और संचारी भावों का संयोग और उससे मंच पर होती रसनिष्पत्ति 'विभावानुभाव. व्यभिचारि संयोगाद् रस निष्पतिः' (ना० शा०—६)

शकुन्तला आदि और उनकी चेष्टाएं नाट्योपस्थिति में वस्तु नहीं भाव हैं, इतने पर भी वे प्रेक्षक पर प्रभाव डालती हैं अतः उन्हें "विभाव" कहा जाता है। स्पष्ट

है। नाट्य लोक में लोक की लोकातीत या लोकोत्तर स्थिति है, जहाँ कुछ भी नहीं है और सब कुछ है। दिखता है स्थूल, पर है सब सूक्ष्म। मानो नाट्य-यात्रा मानसिक यात्रा है, स्थूल उसका केवल सहयोगी है। या नाट्य एक अनंग-कला है जिसमें अंग (स्थूल शरीर) नहीं किन्तु कला (अनुभूत्यात्मक विश्व रति) विद्यमान है।

हमें भरत ने लोक से मंच पर पहुंचाया और नाट्योपस्थिति ने मंच से लोक में। मंच और लोक-दोनों का संवादी होना है सफलता की कसौटी। किन्तु मंच और लोक का विभाजक कौन ? भरत की भाषा में नेपथ्य। नेपथ्य है वह पर्वत जिसे लोकालोक कहा जाता है (रघुवंश—१) अर्थात् जिसका एक अंश दृश्य होता है और दूसरा अदृश्य। वस्तुतः प्रेक्षागृह भी नेपथ्य ही है मंच के लिए। अन्तर इतना ही है की पीछे का नेपथ्य पात्रों के लिए होता है और आगे का नेपथ्य प्रेक्षकों के लिए (छिपाव की यही स्थिति प्रेक्षागृह मंच और नेपथ्य की विभाजक सीमा है। यह बनी रहनी चाहिए। इसके साधन कुछ भी हों—पर्दे, अन्धकार या निर्गमन। वैसे भरत में पर्दों का उल्लेख मिलता है। परन्तु भरत नाट्यशास्त्र में नाट्योपस्थिति के समय पात्र और प्रेक्षक के बीच अन्य किसी को कोई स्थान नहीं दिया गया, अतः सहयोगी कलाकारों का आत्मप्रकाशन नाट्योपस्थिति के समय भरत को मान्य नहीं। उनकी दृश्यता रस धारा में विघातक बन सकती है।

भरत नाट्योपस्थापन को एक दार्शनिक और धार्मिक साधना भी मानते हैं। अतः उनके अनुसार अभिनेता पात्रों को व्रत उपवास आदि द्वारा शरीर और मन से स्वस्थ होना चाहिए। उनके अनुसार अन्य नहीं तो सूत्रधार या नाट्य निर्देशक को तो उपवास करना ही चाहिए और देवाराधन भी। लोकमंगल नाट्य का सामाजिक पक्ष है, अतः रसों द्वारा चेतना की विगलित स्थिति में पहुंचे प्रेक्षक को कर्त्तव्य की दिशा भी अव्यक्त रूप से मिलनी चाहिए। अतः रसनीय नाट्यों में संयम, शिष्टता, श्लीलता या औचित्य को भी उचित स्थान मिलना चाहिये।

भरत के अनुसार - रस मंच और प्रेक्षागृह की दो भूमिकाओं में दो प्रकार का है— आस्वाद्य और आस्वाद रूप से। मंच पर उपस्थित रति, शोक आदि का अनुभव कराने में समर्थ सामग्री मंच का श्रृंगार या करुण है। वह आस्वाद के योग्य इधर प्रेक्षक में उन्हीं रति या शोक का जो अनुभव हो रहा है वह है प्रेक्षक का श्रृंगार या करुण रस। वह आस्वाद है। मंच पर इन रसों (आस्वाद्य वस्तुओं) की उत्पत्ति (रचना) होती है और प्रेक्षक इन्हीं (आस्वादों) की अभिव्यक्ति (अनुभूति या मुक्ति)। शास्त्रीय भाषा में मंच का रस रसवदलंकार है और उस रसवदलंकार प्रेक्षक द्वारा भोग है, प्रेक्षक का रस।

अभिनेता की सफलता प्रेक्षक को अनुभूतियों में निमग्न बनाए रखने में हैं। इसमें जो अपेक्षित है भरत को वह सब मान्य है और जो बाधक वह अमान्य। ००

नाट्यशास्त्र में नेत्राभिनय

□ डॉ० सुधा रस्तोगी

[नेत्र आंगिक अभिनय का एक उपांग है, जिसमें तारकों (पुतलियों), पक्ष्मों (पलकों) तथा भ्रू (भौहों) की विविध गतियों से रस, भाव एवं संचारी-भाव की अभिव्यक्ति होती है। भरत ने तारक, पलक और भौंह के संचालन की विविध गतियों तथा रस, भाव और संचारी-भाव की दृष्टि से विविध प्रकार की छत्तीस दृष्टियों का जैसा सूक्ष्म विवेचन अपने नाट्यशास्त्र में किया है, वह अपनी बारीकी एवं वैज्ञानिकता, भावाभिव्यंजन एवं रस-सृष्टि की दृष्टि से अद्वितीय है।]

● भरत मुनि नाट्यशास्त्र (Dramaturgy) के प्रणेता-मात्र नहीं, नाट्यप्रयोक्ता भी थे।[1] अतः भरत-कृत ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में नाट्य-कला के सिद्धान्त पक्ष के साथ ही नाट्य-प्रयोग और अभिनय के विविध अंग-उपांगों का भी अत्यन्त विस्तृत एवं सांगोपांग निरूपण प्राप्त होता है। नाट्यार्थ को प्रयोग द्वारा अभिव्यक्त कराने का माध्यम ही अभिनय है।[2] तात्पर्य यह है कि नाट्य तो लोक का भावानुकीर्तन रूप है, अतः उसमें जीवन के हर पक्ष का प्रदर्शन सम्भव है, किन्तु जीवन के उन पक्षों तक प्रेक्षक की अनुभूति को ले जाने का कार्य अभिनय द्वारा ही सम्पन्न होता है।

यही कारण है कि नाट्यशास्त्र में अभि उपसर्गपूर्वक णीञ् प्रापणे धातु[3] में पाणिनीय सूत्र एरच् (३-३-५६) के अनुसार अच् प्रत्यय जोड़कर अभिनय शब्द की निष्पत्ति की गई है। भरत ने अभिनय का जो विवेचन किया है, तदनुसार अभिनय को क्रिया-समूह (Acting) मात्र न मानकर, अभिव्यक्ति का माध्यम मानना अधिक उचित है। कुमार स्वामी के शब्दों में कहें, तो रसास्वादन के उद्देश्य को अभिनेता ही सफल बनाता है।[4]

---

1. त्वं पुत्रशतसंयुक्तः प्रयोक्ताऽस्य भवानघ। नाट्यशास्त्र, १-२४।
2. यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः स्मृतः। ना० शा०, ८-७।
3. अभिनय इति कस्मात्? अत्रोच्यते अभीत्युपसर्गः। णीञ् इत्ययं धातुः प्रापणार्थः। ना० शा०, ८,६; तथा अभिपूर्वस्तु णीञ् धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये। ना० शा०, ८-७।
4. The actor educates the spectator by stimulating in him the latent possibility of aesthetic experience, 'Rasaswadana'—the tasting of the flavour.

अभिनय के भरत ने चार प्रकार बताए हैं—(१) आंगिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य एवं (४) सात्त्विक।[1] इनमें आंगिक अभिनय पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं है, अपितु आन्तरिक भाव एवं रसानुभूति का आश्रित होता है, क्योंकि नानाभावरसाश्रय अभिनय[2] द्वारा वस्तुतः आन्तरिक अनुभूतियों को ही व्यक्त किया जाता है। शरीर, मुख एवं चेष्टा द्वारा किए जाने के भेद से आंगिक अभिनय का पुनः त्रिविध विभाजन हो जाता है। अन्य अंगों की अपेक्षा मुख ही इनमें प्रभाव-प्रदर्शन का सर्वोत्तम साधन है, क्योंकि शरीर के निम्न अंग एक तो कार्यवाहक मात्र होते हैं, दूसरे वे वस्त्राभूषणादि से आच्छादित होते हैं, अतः उनके द्वारा भावाभिव्यक्ति की वह विपुल सम्भावना नहीं, जो मुख के द्वारा सम्भव है। मुख के अनेक अवयव हैं, किन्तु मुखज-अभिनय का मूलधार नेत्र है। यहाँ हम नेत्र के ही बहुरूपी अभिनय की व्याख्या करने का प्रयास करेंगे।

नेत्राभिनय

मनुष्य की सम्पूर्ण शरीर-यष्टि में अभिव्यक्ति का जो सशक्ततम माध्यम है, उसकी संज्ञा नेत्र है। आंखों से कहना, आँखों से बताना, नेत्रों की भाषा आदि उक्तियाँ लोकोक्तियाँ मात्र ही नहीं हैं, अपितु यह सत्य है कि मन की अधिकतम भावनाओं की अभिव्यक्ति इन पारदर्शी नेत्रों से ही सम्भव है, जो असंख्य विधियों से अपनी भंगिमाएँ बदल कर मनोभावों का प्रदर्शन करने में समर्थ होते हैं। शरीर-विज्ञान की दृष्टि से आँख अत्यधिक लचीली पेशियों से सम्बन्धित होती है, अतः दायें, ऊपर, नीचे, तिरछे—सभी तरफ कम या अधिक संकोच, विस्तार, प्रस्फुरण आदि अनेकानेक गतियों से सभी रसों एवं भावों की सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम अभिव्यक्ति उपयुक्त ढंग से कर सकती है। यही कारण है कि भरत ने दृष्टि के विभिन्न प्रकारों तथा भावभंगिमाओं के विनियोग की अत्यन्त विश्लेषणात्मक व्याख्या की है। भावाभिव्यक्ति अथवा अभिनय में मात्र दृष्टि ही नहीं, अपितु नेत्र की पुतलियां, पलकें बरौनियां तथा भौंहें भी बड़ा सशक्त भाग लेती हैं। अतः नेत्राभिनय के अन्तर्गत इन सभी के सांगोपांग विश्लेषण का प्रयास करेंगे।

आठ रस दृष्टियां

भरत का दृष्टि-विषयक् विवेचन इतना मनोवैज्ञानिक तथा सर्वाङ्ग सम्पूर्ण है कि वह भरत के नाट्य-सम्बन्धी अन्तर्ज्ञान का ही नहीं, अपितु जनजीवन एवं लोक-परम्परा-विषयक अध्ययन का भी परिचायक है।

रस की संख्या आठ मानने के कारण भरत मुनि ने मुख्यतः आठ दृष्टियों को रस-दृष्टि की संज्ञा दी है।[3] शृङ्गार रस के प्रसंग में प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता के अवसर पर

---

1. आंगिको वाचिकश्चैव आहार्यः सात्त्विकस्तथा।
   ज्ञेयस्त्वभिनयो विप्राश्चतुर्धा परिकीर्तितः॥ ना० शा०, ८-१०।
2. ना० शा०, ८-१७।
3. कान्ता भयानका हास्या करुणा चाद्भुता तथा।
   रौद्री वीरा च वीभत्सा विज्ञेया रसदृष्टयः॥ ना० शा०, ८-४१।

कान्ता दृष्टि का प्रयोग किया जाता है। इसमें भौंहों को संकुलित कर कटाक्षपात किया जाता है।[1] भयानका दृष्टि में आंखों की पलकें यथा सम्भव ऊपर की ओर निष्कंपित रूप से विस्फारित रहती है तथा पुतलियाँ भी फैलकर स्फुरण करती रहती हैं। इस दृष्टि के द्वारा अत्यधिक भय का प्रदर्शन किया जाता है।[2] कुहक (Jugglery) के प्रसंग में प्रयुक्त दृष्टि की संज्ञा हास्या होती है। इसमें ऊपर और नीचे की दोनों पलकें फड़फड़ाती रहतो हैं और पुतलियां कुछ चंचल-सी रहती है।[3] करुण रस के अवसर पर करुणा दृष्टि प्रयुक्त की जाती है। इसमें ऊपर वाली पलक नीचे की ओर झुकी रहती है, आंखो में आँसू भरे होते हैं, ग्लानिवश पुतलियां स्थिर हो जाती हैं तथा दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर टिकी रहती हैं।[4] अद्‌भुता दृष्टि में बरौनियों के अग्रभाग कुछ मुड़े हुए से रहते हैं तथा आश्चर्यवश पुतलियाँ फैल जाती हैं और आंखों की कोरें (आश्चर्य से) खुल जाती हैं। इस दृष्टि से अद्‌भुत रस को अभिव्यक्त किया जाता है।[5] रौद्ररस को प्रदर्शित करने वाली दृष्टि क्रूर और स्नेहरहित होती है, आँखें लाल और फटी-फटी-सी हो जाती हैं, पुतलियां एकदम स्तब्ध हो उठती हैं और भृकुटि टेढ़ी हो जाती है। इस दृष्टि को रौद्री कहा जाता है।[6] वीररस में प्रयुक्त होने वाली वीरा दृष्टि उत्साह से चमकती होती है। इसमें आँखें पूरी खुली हुई होती हैं, पुतलियां आंदोलित, गम्भीर एवं अकम्पित होती हैं और नेत्रप्रान्त प्रमुदित सा प्रतीत होता है।[7] बीभत्सा दृष्टि में पलकें नेत्रों के किनारों की ओर सिकड़ी हुई होती हैं, पुतलियाँ ऊपर-नीचे घूम रही होती हैं तथा बरौनियाँ परस्पर जुड़कर एकदम निश्चल हो जाती हैं।[8] इन आठों दृष्टियों को भरत ने रस-दृष्टि का नाम दिया है।[9]

---

1. हर्षप्रसादजनिता कान्तात्यर्थं समन्यथा।
   सभ्रूक्षेपकटाक्षा च शृङ्गारे दृष्टिरिष्यते ॥ ना० शा०, ८-४७।
2. पौद्वृत्तनिस्तब्धपुटा स्फुटरदुद्‌वृत्ततारका।
   दृष्टिर्भयानकात्यर्थं भीता ज्ञेया भयानके ॥ ना० शा०, ८-४८।
3. क्रमादाकुञ्चितपुटा सविभ्रान्तालपतारका।
   हास्या दृष्टिस्तु कर्तव्या कुहकाभिनय प्रति ॥ ना० शा०, ८-४९।
4. पतितोर्ध्वपुटा सास्त्रा मन्युमन्थरतारका।
   नासाग्रानुगता दृष्टिः करुणा करुणे रसे ॥ ना० शा०, ८-५०।
5. या त्वाकुञ्चितपक्ष्माग्रा साश्चर्योदवृत्ततारका।
   सौम्या विकसितान्ता च साद्‌भुता दृष्टिरद्‌भुते ॥ ना० शा०, ८-५१।
6. क्रूरा रुक्षारुणोद्‌वृत्ता निस्तब्धपुटतारका।
   भृकुटी कुटिलादृष्टी रौद्री रौद्ररसे स्मृता ॥ ना० शा०, ८-५२।
7. दीप्ता विकसिता क्षुब्धा गम्भीरा समतारका।
   उत्फुल्लमध्या दृष्टिस्तु वीरा वीररसाश्रया ॥ ना० शा०, ८-५३।
8. निकुञ्चितपुटापाङ्गा घूर्णोपप्लुततारका।
   संश्लिष्टस्थिरपक्ष्मा च बीभत्सा दृष्टिरिष्यते ॥ ना० शा०, ८-५४।
9. इस संदर्भ में नाट्यशास्त्र के एक प्रक्षिप्त माने जाने वाले श्लोक का उल्लेख अपरिहार्य है। यह श्लोक शान्तरस से सम्बन्धित है। शान्तरस को मान्यता देनेवाले सम्प्रदाय के निमित्त इस श्लोक से शान्तरस की व्याख्या की जा सकती है —

आठ भाव दृष्टियां

इन आठों रसों के आठ स्थायी भाव-विषयक दृष्टियों की भी भरत ने विवेचना की है। तदनुसार रति नामक स्थायी भाव से उत्पन्न दृष्टि का नाम स्निग्धा होता है। इसमें नेत्र न अधिक खुले होते हैं न कम। यह मधुर, स्थिर पुतलियों वाली तथा आनन्दित भ्रू विलास-सम्पन्न होती है।[1] हास संज्ञक भाव से हृष्टा दृष्टि का प्रयोग होता है, जो चंचल, हँसी से भरपूर, (पलकों के संकोचन से) पुतलियों को छिपा लेने वाली एवं आँखों को कुछ सिकोड़ लेने वाली होती है।[2] शोक स्थायी-भाव की व्यंजना दीना संज्ञक दृष्टि से की जाती है। इस दृष्टि में अश्रुपूर्ण पलकें कुछ ढलकी हुई-सी होती हैं, (आँखों में आँसू भरे होने से) पुतलियाँ अस्पष्ट रहती हैं तथा यह अत्यन्त मन्दगतियुक्त होती है।[3] क्रोध नामक भाव को अभिव्यक्त करने वाली क्रुद्धा दृष्टि रूखी होती है। इसमें पलकें फटी-सी और स्तब्ध रहती हैं, पुतलियों को बाहर की ओर निकालते हुए एकटक देखा जाता है तथा भौहें टेढ़ी हो जाती हैं।[4] भय के स्थायी भाव में प्रयुक्त होने वाली दृष्टि भयान्विता मानी जाती है। इसमें दोनों पलकें विस्तृत होती हैं, तथा भय से काँप रही पुतलियां आंख के मध्य भाग में स्थिर नहीं रहतीं।[5] दृप्ता नामक दृष्टि [6] उत्साह,संज्ञक स्थायी भाव की अभिव्यंजक होती है। इनमें पुतलियाँ स्थिर रहती हैं तथा दृष्टि अचंचल, विस्फारित एवं ओज की प्रदर्शिका होती है। जब दोनों पलकें सिकोड़ ली जाएं (निगाहों के भटकने से) पुतलियाँ छिपी जा रही हों, अपने लक्ष्य से जो बार-बार हट रही हों, उस दृष्टि को जुगुप्सिता दृष्टि कहते हैं। यह जुगुप्सा नामक स्थायी

नासाग्रसक्तानिमिषा तथाधौभागचारिणी
आकैकरपुटा चैव शान्ता दृष्टिर्भवेद सी।

तदनुसार नाक के अगले भाग को लक्ष्य करने वाली, नीचे की ओर झुकी दृष्टि वाली तथा अर्ध-निमीलित पलकों वाली दृष्टि का नाम शान्ता है।

1. व्याकोशमध्या मधुरा स्थिततारामिलाशिणी।
   सानन्दभ्रूलता दृष्टिः स्निग्धेयं रतिभावजा॥ ना० शा०, ८-५७।
2. चला हसितगर्भा च विशत्तारानिमेषिणी।
   किञ्चिदाकुञ्चिता हृष्टा दृष्टिर्हासे प्रकीर्तिता। ना० शा०, ८-५५।
3. अवस्त्रस्तोत्तापुटा रुद्धतारा जलाविला।
   मन्दसञ्चारिणी दीना सा शोके दृष्टिरुच्यते॥ ना० शा०, ८-५६।
4. रुक्षा स्थिरोदवृत्तपुटा निष्तब्धोद्वृत्ततारका।
   कुटिलभ्रुकुटी दृष्टिः क्रुद्धा क्रोधे विधीयते॥ ना० शा०, ८-५७।
5. विष्फारितोभयपुटा भयकम्पिततारका।
   निष्क्रान्तमध्या दृष्टिस्तु भयभावे भयान्विता॥ ना० शा०, ८-५८।
6. संस्थिते तारके यस्याः स्थिरा विकसिता तथा।
   सत्त्वमुद्गिरतीदृप्ता दृष्टिरुत्साहसंभवा॥ ना० शा०, ८-५९।

भाव में प्रयुक्त होती है[1]। विस्मय स्थायी भाव में जिस दृष्टि का उपयोग किया जाता है, उसमें पुतलियां (आश्चर्य से) फैल जाती हैं, दोनों आंखों की पलकें सिकुड़ कर स्तब्ध हो उठती हैं तथा आँखें विस्फारित हो जाती हैं इस दृष्टि की संज्ञा **विस्मिता** है।[2]

बीस संचारी दृष्टियाँ

उपर्युक्त दृष्टियों के विवेचन के उपरान्त नाट्यशास्त्र में सञ्चारी भावों की अभिव्यंजक दृष्टियों के लक्षण बताए गए हैं।[3] जब पुतलियां एवं पलकें सामान्य अवस्था में हों, स्पन्दनहीन हों, दृष्टि किसी भी पदार्थ को न लक्षित कर रही हो और जो कोई भी वस्तु को देखने में असमर्थ हो, उसे शून्या दृष्टि कहते हैं। जिस दृष्टि में बरौनियाँ कांप रही हों, पलकें आधी बन्द हों, आँखों की कोरें गंदली-सी हों एवं पुतलियां चंचल हों, उसे मलिना दृष्टि कहा जाता है। थकावट से झुकी पलकों वाली, क्लान्ति से तिरछी दृष्टिवाली एवं ढलकी हुई पुतलियों से युक्त दृष्टि को श्रान्ता दृष्टि का अभिधान दिया जाता है। जब आंखों की बरौनियाँ कुछ झुकी हुई-सी हों, शर्म से ऊपरी पलक झुकी जाती हो तथा व्रीड़ावश पुतलियां भी नीचे की ओर गिरी जाती हों, तो उस दृष्टि को लज्जान्विता दृष्टि कहते है। भौंहों, पलकों तथा बरौनियों की गति एकदम धीमी हो. वह ढलकी हुई-सी हो तथा आँखों की पुतलियां शनैः शनैः नीचे की ओर डूबती जाती हों, तो उसे ग्लाना दृष्टि कहते हैं। कुछ चंचल-सी और कुछ निश्चल-सी, कभी बाहर की ओर घूरती हुई-सी एवं कभी तिर्यक् विस्तारित दृष्टि, जिसमें पुतलियाँ भौंचक्की और चकित-सी लगें, शंकिता दृष्टि कही जाती है। वह उदास दृष्टि, जिसमें पलकें खूब विस्फारित हों, पलक न झपकती हों तथा पुतलियाँ लगभग स्थिर हों, उसे विषादिनी दृष्टि कहते हैं। जब जुड़ी-जुड़ी-सी बरौनियाँ काँप रही हों, ऊपरी पलक पूरी तरह झुकी हुई हो तथा आनन्द से पुतलियाँ उन्मीलित हों, तो उसे मुकुला दृष्टि कहते हैं। कुञ्चिता नामक दृष्टि में बरौनियों के अग्रभाग कुछ मुड़े हुए रहते हैं तथा पलकें एवं पुतलियाँ संकुचित रहती हैं। जिस दृष्टि में पलकें मन्दगति से फड़कती रहें, पुतलियों की गति अत्यन्त मन्थर हो तथा जो दुखः एवं पीड़ा की परिचायक हो, उसका नाम अभितप्ता दृष्टि कहा जाता है। कटाक्षपात के कारण जब आँखों की पलक सिकुड़ कर मुंद जाएं और पुतलियाँ न दिखाई पड़ती हों, तो, उसे जिह्मा दृष्टि का नाम दिया जाता है। जो दृष्टि मधुर हो, जिसमें नेत्रों के प्रान्त भाग वक्र हों, जो भ्रूपात से युक्त हो, सहास्य हो एवं जिसमें कामविकार हो, उस दृष्टि की संज्ञा ललिता होती है। जब

---

1. संकोचितपुटाध्याया दृष्टिर्मीलिततारका।
   लक्षोद्वेशात्समुद्विग्ना जुगुप्सायां जुगुप्सिता ॥ ना० शा०-८-६० ।
2. भृशमुद्वृत्ततारात्र नष्टोभयपुटाञ्चिता।
   समाविकसितादृष्टिर्विस्मिता विस्मये स्मृता। ना० शा०, ८-६१।
3. स्थायिभावाश्रया ह्येता विज्ञेया दृष्टियो बुधैः।
   सञ्चारिणोनां दृष्टीनां संप्रवक्ष्यामि लक्षणम् ॥ ना० शा० ८-६२।

पलकें जिज्ञासावश ऊपर की ओर मुड़ी हों, पुतलियाँ खूब विस्फारित हों तथा नज़रें नीचे की ओर झुकी हों, तो उसे वितर्किता दृष्टि कहते हैं। आँखों की बरौनियाँ आधी मुंदी हों, प्रसन्नतावश पलकें आधी बन्द हो गई हों तथा पुतलियों की गति मन्द हो, तो उस अवस्था का नाम अर्धमुकुला दृष्टि होता है। जिस दृष्टि में पुतलियाँ स्थिर न हों, जो देखने में भटकी हुई और व्याकुल सी लगती हों एवं जिसमें नेत्र विस्फारित तथा उभरे हुए-से दिखाई देते हों उसे विभ्रान्ता दृष्टि कहते हैं। जब पलकें फड़क कर शान्त हो जाएँ तथा पुतलियाँ गतिशील हों, तो उस दृष्टि की संज्ञा विप्लुता होती है। आकेकरा दृष्टि में पलकें तथा अपांग कुछ संकुचित एवं मुकुलित से होते हैं, आँख आधी झँपी रहती है तथा पुतलियाँ बार-बार घूम रही होती हैं। विकोशा दृष्टि में दोनों पलकें एकदम खुली होती हैं तथा दृष्टि प्रसन्नता से उत्फुल्ल रहती है, पलकें बिल्कुल नहीं झपकती तथा पुतलियाँ गतिशील रहती हैं। जब पलकें (भयवश) ऊपर की ओर उघड़ी हों, पुतलियाँ काँप रही हों और पीड़ा के कारण आँखों का मध्यभाग खुल गया हो, तो उसे त्रस्ता दृष्टि कहते हैं। जब आँखों का मध्यभाग चक्कर खा रहा हो, आँखें एकदम सिकुड़ गई हों एवं नेत्रों के कोर बिल्कुल खुले हुए हों, तो उसे मदिरा दृष्टि कहते हैं। इसका प्रयोग मद्यपान की प्रारम्भिक अवस्था के प्रदर्शनार्थ किया जाता है। मद्यपान की मध्यावस्था के अभिनय में पलकें संकुचित, पुतलियाँ चंचल एवं दृष्टि अस्थिर हो जाती है। इसी अवस्था की चरम दशा में पलकें या तो अत्यधिक झपकती हैं या एकदम स्थिर हो जाती हैं, पुतलियाँ थोड़ी-सी झलकती हैं एवं निगाह नीचे झुकी रहती है।

इस प्रकार आठ रस-दृष्टि, आठ भाव-दृष्टि एवं बीस संचारी दृष्टियों[1] को मिलाकर कुल छत्तीस दृष्टियों का भरत ने विवेचन किया है। श्री कुमार स्वामी ने इनके अतिरिक्त

---

1. यहाँ शंका उठाई जा सकती है कि जब अष्ट संख्यक स्थायी भावों की अभिव्यंजक दृष्टियों की संख्या आठ है और उसी प्रकार आठ रसों की अभिव्यंजना भी आठ ही रस-दृष्टियों द्वारा मानी गई है, तो तैंतीस सञ्चारी भावों की कुल बीस सञ्चारी दृष्टियों द्वारा अभिव्यक्ति का सामंजस्य किस प्रकार हो सकता है? किन्तु इस प्रकरण के पुनर्निरीक्षण मात्र से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि एक रस या भाव की प्रतीति केवल एक ही दृष्टि से होने के कारण उन्हीं की भांति रसज एवं भावज दृष्टियों की संख्या भी आठ ही है, किन्तु सञ्चारी भावों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। वहाँ एक ही दृष्टि से अनेक सञ्चारी भावों को व्यक्त किया जाता है, यथा मलिना दृष्टि का प्रयोग निर्वेद एवं वैवर्ण्य में तथा ग्लाना दृष्टि का अपस्मार, व्याधि एवं ग्लानि में होता है। यही स्थिति अन्य दृष्टियों की भी है। दूसरी ओर, एक ही सञ्चारी भाव को दो भिन्न दृष्टियों द्वारा अभिव्यक्त करने की संभावना भी है, यथा असूया के अभिनय में कुंचिता एवं जिह्या दोनों दृष्टियों के विनियोग का विधान किया गया है।

आठ अन्य दृष्टियों का उल्लेख कर कुल चवालिस दृष्टियों को मान्यता दी है।[1] इन दृष्टि-निक्षेपों के प्रयोग के विविध प्रसंगों के विषय में भी भरत ने बताया है कि किन संचारी भावों के अवसर पर किस दृष्टि का प्रयोग किया जाना चाहिए। तदनुसार शून्य दृष्टि का प्रयोग चिन्ता एवं परेशानी में, मलिना का निर्वेद तथा वैवर्ण्य में, श्रान्ता का श्रम तथा स्वेद में, लज्जान्विता का शर्म में, ग्लाना का अपस्मार, बीमारी तथा ग्लानि में, शंकिता का जिज्ञासा में, विषादिनी का शोक में, मुकुला का नींद, स्वप्न तथा सुखानुभूति के अवसर पर, कुञ्चिता का असूया, अदर्शनीय पदार्थ के दर्शन तथा आँख की पीड़ा में, अभितप्ता का प्रयोग तटस्थता, चोट आदि लगने एवं ज्वरादिजन्य ताप के अवसर पर, जिह्मा दृष्टि का प्रयोग असूया, जड़ता तथा आलस्य में, ललिता का धृति तथा हर्ष में, अर्धमुकुला का गन्ध एवं स्पर्शजन्य आह्लाद में, वितर्किता का स्मृति तथा तर्क में, विभ्रान्ता का आवेग संभ्रम तथा विभ्रम में, विप्लुता का चपलता, उन्माद क्लेश तथा मृत्यु आदि से उत्पन्न दुःख में, आकेकरा दृष्टि का प्रयोग सुदूर-स्थित वस्तु के दर्शन, वियोग एवं गौर से देखने में. विकोशिता का विबोध, गर्व, अमर्ष तथा उग्रता में, त्रस्ता का भय में एवं मदिरा दृष्टि का प्रयोग मद्यपान के प्रसंग में किया जाता है।[2] नाट्यशास्त्र में सञ्चारी भावों के अतिरिक्त भी अन्य स्थितियों के संदर्भ में दृष्टि-विनियोग का विवेचन हुआ है जिससे यह प्रतीत होता है कि भरत नाट्य के प्रयोगात्मक पक्ष अर्थात अभिनय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पक्ष के प्रति अत्यन्त सजग हैं।

नेत्र : आंगिक अभिनय का एक उपांग

नेत्र-संचालन में केवल दृष्टिपात ही नहीं, पुतली (तारक), बरौनी (पक्ष्म) एवं भौंह (भ्रू) की भंगिकाएँ भी सम्मिलित रहती हैं। इनमें से किसी एक के भी चेष्टा-भेद से भावाभिव्यक्ति में अन्तर आ जाता है। वस्तुतः नाट्यशास्त्र में अभिनय द्वारा भावाभिव्यक्ति की कला इतने विकसित रूप में है कि प्रायः अंग को ही अंगी बनाकर पुनः उसके उपांगों का विश्लेषण होने लगता है। उदाहरणार्थ अभिनय के अनेक उपांगों में से एक अंग नेत्र के विश्लेषण के अन्तर्गत भी तारक, पक्ष्म एवं भ्रूपात की अनेक विधाओं की चर्चा की गई है क्योंकि अभिव्यक्ति-विशेष के निमित्त इन सभी के संचालन का सामंजस्य होना अपेक्षित है।

पुतली-संचालन के नौ प्रकार : तारक (पुतली) का संचालन नौ प्रकार का होता है— (१) भ्रमण, (२) वलन, (३) पात, (४) चलन, (५) सम्प्रवेशन, (६) विवर्तन, (७) समुद्वृत (८) निष्क्रम, एवं (९) प्राकृत[3]। दोनों पलकों के अन्दर पुतलियों को घुमाने की संज्ञा भ्रमण है। पुतलियों को तिर्यक् गति से चलाना वलन, ढलकाना

1. कुमारस्वामी, 'मिरर आफ गेस्चर, पृ० ४०।
2. ना० शा०, ८/८७ से ९४।
3. ना० शा०, ८/९६ से ९८।

पातन, कँपाना चलन, पलकों के अन्दर ले जाना अंत:प्रवेशन, कटाक्षपात करना .विवतन, ऊपर की ओर चढ़ाना समुद् वर्तन, बाहर की ओर निकालना निष्क्रामण एवं सामान्य अवस्था में रखना प्राकृत संचालन कहा जाता है।

पुतलियों के ये संचालन विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति के निमित्त होते हैं। तदनुसार भ्रमण, वलन एवं समुद् वृत्त चेष्टा का प्रयोग वीर एवं रौद्र रस के प्रसंग में तथा निष्क्रमण एवं वलन का प्रयोग भयानक रस में किया जाता है। प्रवेशन का प्रयोग हास्य तथा वीभत्स रस में, पातन करुण रस के सन्दर्भ में, निष्क्रमण का अद्‌भुत रस, विवर्तन का शृंगार रस एवं प्राकृत तारापुट का प्रयोग शेष सभी रसों के प्रसंग में (अर्थात् साधारण स्थिति में) किया जाता है।[1]

पलकों की नौ चेष्टाएँ

भरत की कृति केवल नियमों वा लक्षणों का कोष-मात्र नहीं है, अपितु वास्तविकता से अनुप्राणित है, ऐसा साधारण से साधारण स्थल पर भी स्पष्ट हो जाता है। यथा आंख की पुतली के संचरण से पलकों की अवस्थिति भी बदल जाएगी, यह तथ्य भरत की पैनी निगाह से ओझल नहीं है। यही कारण है कि नाट्यशास्त्र में आगे जब पलकों की चेष्टाओं (पुटकर्म) की व्याख्या की गई है, तो उसे "पुतलियों का अनुसरण करने वाली" कहकर पूर्वचर्चित तारक-चेष्टाओं से सम्बद्ध किया गया है [2]। स्वभावत: सिद्ध है कि पुतलियों की ही भांति पलकों की चेष्टाएँ भी नवविध ही होंगी। उनके नाम हैं—(१) उन्मेष, (२) निमेष, (३) प्रसृत, (४) कुञ्चित, (५) सम, (६) विवर्तित, (७) स्फुरित, (८) पिहित, एवं (९) विताड़ित।[3] पलकों का खुलना उन्मेष, जुड़ना निमेष, फैलना प्रसृत, सिकुड़ना कुञ्चित, स्वाभाविक स्थिति में रहना सम, उठना विवर्तित, फड़कना स्फुरित, निश्चेष्ट रहना पिहित, एवं आघात आदि के भय से पलकों का अचानक बन्द होना वितालित कहा जाता है।[4] इनमें विवर्तित, निमेष तथा उन्मेष का प्रयोग क्रोध में, प्रसृत का विस्मय, हर्ष तथा वीर-रस के प्रसंग में, कुञ्चित का अप्रिय वस्तु को देखने, सूँघने, चखने या छूने के अवसर पर, सम का रति में, स्फुरित का द्वेष में, पिहित का सोने, बेहोशी एवं लू, धुआँ, बारिश एवं अंजन आदि से उत्पन्न कष्ट और आँख के रोगों के प्रदर्शन में तथा वितालित का प्रयोग अकस्मात् चोट लगने के प्रसंग में किया जाता है।[5]

---

1. ना० शा० ८/१०२ से १०४।
2. इत्येषदर्शनविधिः सर्वभावरसाश्रयः।
   तारागता स्यानुगते पुटकर्मनिबोधत ॥ ना० शा०, ८/११०।
3. ना० शा०, ८/१११।
4. ना० शा० ८/११२ से ११४।
5. ना० शा०, ८/११५ से से ११७।

भौंहों की सात गतियां। भौंहों की गति पुतलियों की अनुसारिणी पलकों की गति के साथ तादात्म्य रखते हुए चलती है, अतः भौंहों की चेष्टाओं की व्याख्या इनके बाद ही की गई है। भौंहों की गति सप्तविध होती है—(१) उत्क्षेप, (२) पातन, (३) भ्रुकुटि, (४) चतुर, (५) कुञ्चित, (६) रेचित, एवं (७) सहज।[1] दोनों भौंहों को एक साथ या एक-एक करके उठाने को उत्क्षेप, एक साथ या एक-एक करके नीचे झुकाने को पातन, भौंहों के मूल भाग को ऊपर तक उठाने को भ्रुकुटि, मृदुलता से ऊपर उठाकर फैलाने को चतुर, एक अथवा दोनों को धीरे से नीचे गिराने को कुञ्चित, केवल एक भौंह को लीलापूर्वक ऊपर उठाने को रेचित, एवं भावों की स्वभाविक अवस्था को सहज कहा जाता है। क्रोध, वितर्क, हेला, लीला एवं स्वाभाविक अवस्था में तथा देखने एवं सुनने के समय उत्क्षेप चेष्टा में एक भौंह को तथा आश्चर्य, प्रसन्नता एवं क्रोध के अवसर पर दोनों भौंहों को उठाना चाहिए। असूया, जुगुप्सा, हास तथा सूँघने का अभिनय करते समय पातन का, क्रोध और चमक लगने की स्थिति में भ्रुकुटि का, रति, लीला तथा सुखदायी स्पर्श के समय चतुर का, मौट्टायित, कुट्टमित, विलास तथा किलकिञ्चित[2] के प्रदर्शन में कुंचित का, नृत्य के समय रेचित का तथा साधारण अवस्थाओं में सहज भ्रूक्षेप का प्रयोग किया जाना चाहिए।[3]

वस्तुतः नेत्र वह वातायन हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति के अन्तर्मन का दर्शन किया जा सकता है। यही कारण है कि भरत नेत्राभिनय की इस व्याख्या को तब तक सर्वांग सम्पूर्ण नहीं मानते, जब तक कि वह साधारण दर्शन की विधियों पर विचार न करते, क्योंकि उपर्युक्त लक्षणों के अन्तर्गत रस एवं भावविशेष की व्याख्या तो हो सकती है, किन्तु साधारण परिस्थिति की नहीं।

दृष्टि के आठ भेद

दृष्टि के भेद अष्टविध हैं— (१) सम, (२) साची, (३) अनुवृत्त, (४) आलोकित, (५) विलोकित, (६) प्रलोकित, (७) उल्लोकित, एवं (८) अवलोकित। समान स्थिति एवं शान्त अवस्था में पुतलियों का रहना सम दृष्टि कहा जाता है। जब पुतलियों पर बरौनियाँ झुकी हों एवं दृष्टि तिरछी हो, तो उसे साची नाम देते हैं। किसी वस्तु को गौर से देखने वाली दृष्टि का नाम अनुवृत्त दृष्टि होता है। किसी वस्तु पर अचानक दृष्टि पड़ने को आलोकित, पीछे देखने को विलोकित, पार्श्व में देखने

---

1. ना० शा० ८-१९।
2. मोट्टायित (लीला या प्रेम-प्रदर्शन) कुट्टमित (वस्तुतः आनन्दानुभूति होने पर भी कृत्रिम रोष का प्रदर्शन,), एवं किलकिञ्चित (हर्षातिरेक से हँसना, रोना भय; मूर्च्छादि अनेक अवस्थाओं का एक साथ प्रदर्शन) स्त्रियों की प्रेमक्रीड़ा की विभिन्न दशाएँ हैं।
3. ना० शा०, ८-१२५ से १२९।

को प्रलोकित, ऊपर देखने को उल्लोकित एवं नीचे देखने को अवलोकित संज्ञा दी जाती है। दृष्टि के ये प्रकार किसी एक रस या भाव से नहीं बंधे हैं, सभी रसों एवं भावों के प्रसंग में ऐसी परिस्थिति आने पर इनका प्रयोग किया जाता है।

वस्तुतः नाट्यशास्त्रीय परम्परा में भरत अनूठे हैं—अद्वितीय। अभिनय के क्रियात्मक पक्ष के एक-एक रेशे को इस कलात्मक ढ़ंग से उन्होंने सँवारा है, और फिर उस काल में जब कि संसार के अन्य भागों में एतद्विषयक कोई चर्चा तक नहीं मिलती, तो भरत की इस सूक्ष्मदर्शिता से हम अभिभूत ही नहीं श्रद्धावनत हो उठते हैं। ००

(डॉ० अज्ञात द्वारा संपादित 'रंग-भारती' के अप्रैल ७९ अंक से साभार)

श्रुतिस्मृतिसदाचारपरिशेषार्थकल्पनम्।
विनोदजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति॥

यह जो संसार के प्राणियों का सुख एवं स्वभाव है, वह स्वभाव यदि आङ्गिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्यिक अभिनय से युक्त हो जाय तो नाट्य कहलाता है।

अभिनय

एक टिप्पणी

- अभिनय = अभि + 'नी' धातु —उत्कृष्टता की ओर ले जाना।
- अभिनय का अर्थ —शाखा, अंग और उपांगों सहित यह नाटक का अर्थ संप्रेषित करता है।
- अभिनय के चार प्रकार —आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्विक।
- आंगिक अभिनय के तीन प्रकार —शारीरिक, मुखज, चेष्टाकृत।
- अंग ६ हैं —शिर, हस्त, वक्ष, पार्श्व, कटि और पाद।
- उपांग —नेत्र, भ्रू, नासिका, नीचे का ओठ और चिबुक।
- आंगिक अभिनय ही *शाखा* है, अंगों से उत्पन्न मुद्राएं अंकुर हैं और करणों एवम् अंगहार से युक्त अभिनय ही नृत्त है।
- **शिर के १३ अभिनय**

अकम्पित —(सिर को धीरे धीरे ऊपर नीचे हिलाना) प्रश्न, परिचय, सम्बोधन में।

कम्पित —(सिर को बारम्बार तेजी से हिलाना) क्रोध, तर्क, विवाद आदि में।

धूत —(सिर का धीमे धीमे दायें बायें घुमाना) अस्वीकृति, विस्मय आदि में।

विधूत —(सिर को तेजी से दायें बायें घुमाना) शीत, भय, आतंक, ज्वर और मदिरापान की प्रथम अवस्था में।

परिवाहित —(क्रम से सिर एक ओर फिर दूसरी ओर घुमाना) आश्चर्य, आह्लाद, स्मरण, असह्यता, विचार और विलास।

उद्वाहित —(सिर को एक बार ऊपर उठाना) श्रेष्ठता, अहम् आत्मश्लाघा।

अवधूत —(सिर उठाकर एक बार नीचे करना) संदेश, आवाहन, संलाप।

अंचित —(सिर एक ओर झुकाना) बीमारी, मूर्च्छा, मादकता, चिंता और विषाद।

निहंचित —(गरदन झुकाकर दोनों कंधे उठाना) स्त्रियों द्वारा अभिमान, विलास, ललित, मान, क्रोध और उपेक्षा का बहाना।

परावृत्त (मुख घुमा लेना) सिर घुमाकर पीछे देखने हित।

उत्क्षिप्त (चेहरा ऊपर को उठा हुआ) श्रेष्ठ वस्तु और दिव्य आयुधों का संकेत।

अधोगत (मुख नीचे को झुका हुआ) लज्जा, नमन और दुख में।

परिललित —(सिर चारों ओर घुमाना) मूर्च्छा, बीमारी, मदमत्तता और डूबने में या भूतप्रेत का आवेश होने पर।

- नेत्राभिनय के ३६ प्रकार हैं —देखिये नेत्राभिनय / (आठ रस दृष्टियाँ हैं—कांत, भयानक, हास्य, करुण, अद्भुत, रौद्री, वीर, वीभत्स। आठ भाव व्यंजक—स्निग्ध, हृष्ट, दीन, क्रुद्ध, दृप्त, भयान्वित, जुगुप्सित और विस्मित। शून्य, मलिन, श्रांत, लज्जान्वित, ग्लान, शंकित, विषादिनी, मुकुल, कुंचित, अभितप्त, जिह्मा, ललित, वितर्कित, अर्धमुकुल, विभ्रांत, विप्लुत, आकेकरा, विक्रोष, त्रस्त, मदिर—२० अस्थायी भाव व्यंजक दृष्टियाँ होती हैं)।
- नेत्र की पुतली की ९ प्रकार की अभिनय गतियाँ हैं —भ्रमण, वलण, पतन, चलन, संप्रवेषण, विवर्तन, समुद्वृत्त, निष्क्रम, प्रकृत।

● आठ प्रकार की दृष्टि हो सकती है : —सम, साचि, अनुवृत्त, आलोकित, विलोकित, प्रलोकित, उल्लोकित तथा अवलोकित।

● पलकों की नौ गतियाँ : —उन्मेष, निमेष, प्रसृत, कुंचित, सम, विवर्तित, स्फुरित, पिहित, विताड़ित।

● भौंहों की सात गतियाँ : उत्क्षेप, पतन, भृकुटि, चतुरा, कुंचिता, रेचिता, सहज।

● नासिकाभिनय : इनके ६ प्रकार हैं :—

नत	—नथुने गिरे हुए अल्परोदन में।
मंद	—स्थिर नासिका - विवशता, चिंता।
विकृष्ट	—नथुने फूले हुए - क्रोध, भय, तीव्रगंध।
सोच्छ्‌वास	—दीर्घश्वास लेते समय, सूंघना।
विकूणित	– नथुने सिकुड़े हुए - हास्य, घृणा, ईर्ष्या।
स्वाभाविक	—सहजरूप में।

● गाल की छः गतियाँ :

क्षम	—दुःख में गिरे हुए।
फुल्ल	—अतिहर्ष में फूले हुए।
घूर्ण	—उत्साह और दर्प में फैले हुए।
कम्पित	—क्रोध या हर्ष में काँपते हुए।
कुंचित	—शीत, भय, ज्वर में सिकुड़े हुए।
सम	— सहज अवस्था में।

● निचले ओठ की ६ गतियाँ :

विवर्तन	—ईर्ष्या, पीड़ा, घृणा और हर्ष में सिकोड़ना।
कंपन	—पीड़ा, शीत, भय क्रोध, तीव्रता में कंपाना।
विसर्ग	—स्त्रियों की प्रेमक्रीड़ा में, उपेक्षा और ओष्ठरंजन में बाहर निकालना।
विनिगुहन	—प्रयास में ओठ अंदर दबाना।
संदशतक	—क्रोध में दाँत को ओठ काटना।
समुद्गक	—दया, चुंबन और अभिवादन में ओठ गोल करना।]

● ठोड़ी या चिबुक की सात गतियाँ :

कुट्टन	—दाँत बजते हुए - शीत, भय, ज्वर और क्रोध में ।
खंडन	—दाँत बारबार लगना - प्रार्थना, अध्ययन, बोलना और भोजन ।
छिन्न	—दाँत पर दाँत बैठना - बीमारी, भय, शीत, व्यायाम, रुदन, मृत्यु ।
चुक्कित	—जम्हाई लेने में ।
लेहित	—जीभ से ओठ चाटना - लालच का प्रदर्शन ।
सम	—ओठ हल्के मिले हुए, सहजभाव है ।
दंश्त	—दाँत से ओठ काटना - क्रोध की अवस्था में ।

● मुख की छः गतियाँ :

विनिवृत्त	—एक ओर घूमा हुआ - इर्ष्या, क्रोध, घृणा, अवमानना ।
विधूत	—एक ओर फैला हुआ - ना कहने में,
निभुग्न	—गहराई में देखने का भाव, झुका हुआ ।
भुग्न	—थोड़ा सा फैला हुआ - विवशता, उद्धतता, कामना, चिंता, अनुशासन एवम् विमर्श में ।
विवृत	—खुला हुआ - हास्य, दुख, भय में ।
उद्वाहित	—ऊपर उठा हुआ - स्त्रियों की क्रीड़ाप्रियता और गर्व में, 'जाओ'—कहने में, क्रोध भरे शब्द, 'अच्छा ये बात है ?' कहने में ।

● चेहरे के रंग	—स्वाभाविक ।
प्रसन्न	—(चमकता हुआ) आश्चर्य, प्रेम, हास्य ।
रक्त	—(लाल) मादकता में, वीर, भयानक और करुण में ।
श्याम	—(काला) भीषण और वीभत्स में ।

● ग्रीवा की नौ गतियाँ :

सम	—सहज, ध्यानावस्था, जप या मंत्र पाठ करते हुए ।
नत	—मुख अवनत करने हेतु - श्रृंगार करते समय, ग्रीवा आलिंगन में ।

उन्नत —मुख ऊपर उठा हुआ - ऊपर देखने हेतु ।

त्र्यस्र —मुख एक ओर घुमा हुआ - कंधे पर बोझा ढोने में, दुख में ।

रेचित —घूमती हुई गरदन - अनुभूति, मंथन, नृत्य में ।

कुंचित —सिर झुका हुआ - वोझ के भार से और गरदन की रक्षा में ।

अंचित —सिर पीछे को घूमा हुआ - फाँसी, केशकलाप, बहुत ऊपर ताकना ।

वाहित —ग्रीवा और मुख एक ओर घूमे हुए - सिर घुमाकर देखने में ।

निवृत्त —सामने की ओर देखते हुए, घर जाने का भाव ।

● शरीर मुख्य अंगों का अभिनय —हाथ, वक्ष, पार्श्व, उदर, कटि, जंघा और पैर के विभिन्न अभिनय और उनके उपयोग बताये गये हैं ।

हाथ —६७ मुद्राएं बतायी गयी हैं । केवल नाम दिये जाते हैं (विस्तार के लिए नाट्यशास्त्र देखें) ।

असंयुक्त हस्त (एक हाथ) —पताका, त्रिपताका, कर्तरिमुख, अर्धचन्द्र, अराल, शुकतुंड, मुष्टी, शिखर, कपित्था, कटकामुख, सूचिमुख, पद्मकोश, सर्पशिर, मृगशिर, कांगुल, अलापद्म, चतुर, भ्रमर, हंसस्य, हंसपक्ष, संदेश, मुकुल, ऊर्णनाभ, ताम्रचूर्ण ।

संयुक्त हस्त (दोनों हाथ) —अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिका, कटकवर्धमानक, उरश्रृंग, निषाध, दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदंत, अवहित्थ, वर्धमान ।

नृत्य हस्त —चतुस्र, उद्वृत्त, तालमुख, स्वस्तिक, विप्रकीर्ण, अरालकटकमुख, अविद्धवक्त्र, सूच्यास्य, रेचित, अर्धरेचित, उत्तानवंचित, पल्लव नितम्ब, केशबन्ध, लता, कटिहस्त, पक्षवंचितक, पक्षप्रद्योतक, उरोमंडली, उरः पार्श्वरार्धमण्डली, मुष्टिका-वस्तिका, नलिनीपद्म कोश, अलपल्लव, उल्बन, ललित, वलित ।

हस्त की नृत्य गति से चार 'करण' सम्बन्धित हैं —आवेष्ठित, उद्वेष्ठित, व्यावृत्त, परिवर्तित ।

● वक्ष अभिनय पांच प्रकार के हैं :

आभुग्न —वक्ष तनिक झुका, पीठ उठी, कंधे कुछ झुके-जल्दी निराशा, मूर्च्छा, भय, रुग्णता, भग्नहृदय, शीतलस्पर्श, वर्षा और लज्जा व्यक्त करते समय।

निर्भुग्न —वक्ष उठा और तना हुआ, पीठ झुकी, कंधे उठे हुए—पक्षाघात, सम्मान स्वीकृति, आश्चर्य प्रागट्य सत्यवादिता, आत्मश्लाघा और अतिदर्प की अभि व्यक्ति।

प्रकम्पित —वक्ष का निरन्तर ऊपर नीचे उठना। हास्य, रुदन, विश्रांति, भय, सांस फूलना, दमा, हिचकी और आतंता की व्यंजना।

उद्वाहित —वक्ष तना हुआ, इसका संकेत है गहरी श्वास लेना, उच्च पदार्थों की ओर देखना, जम्हाई खाना।

सम —सहजभाव।

● पार्श्व भाग की भी पांच गतियां हैं :

नत —कमर और पक्ष एक ओर झुका, एक कंधा भी झुका हुआ, किसी के निकट पहुंचने का भाव।

उन्नत —एक ओर की कमर, हाथ, कंधे उठे हुए, दूसरी ओर नत-पीछे हटने का भाव।

प्रसारित —दोनों पक्ष फैले हुए, हर्षोल्लास की व्यंजना।

विवर्तित —कटि अंग घूमा हुआ। घूमने का भाव।

अपसृत —विवर्तित से पुनः सहजभाव में आना अर्थात् घूमने की क्रिया पूर्ण होना।

● उदर की तीन गतियां :

क्षाम —(तनु) हास्य, रुदन, श्वसन और जम्हाई में।

खल्व —(पिचका) रुग्णता, पश्चाताप, थकान और क्षुधा में।

पूर्ण —(फूला) आह्लाद, मोटापा, रुग्णता और भोजन मट्टता।

● कटि की पांच गतियां :

छिन्न —(एक ओर घूमी हुई) व्यायाम, शीघ्रता और एक ओर देखना।

निवृत्त	—(पीछे से आगे की ओर कमर घुमाना)-घूमने हेतु।
रेचित	—(चतुर्दिक घुमाना) - चतुर्दिक घूमना।
प्रकंपित	—(तिरछे रहकर तीव्रता से आगे पीछे कमर हिलाना) कुबड़ापन, बौनापन, निम्नश्रेणी के मनुष्य।
उद्वाहित	—(कमर का पार्श्व धीरे धीरे ऊपर उठाना) मोटे आदमी का चलना, स्त्रियों के चलने की कमनीय गति।

● जंघा की पांच गतियां —कंपन, वलन, स्तंभन, उदवर्तन तथा विवर्तन।

● घुटने की पांच गतियां —अवर्तित, नत, क्षिप्त, उद्वाहित तथा परिवृत्त।

● पैर की पांच गतियां —सम, अग्रतल संचार, अंचित, कुंचित, उद्घट्टित।

इन अधो अंगों की गतियों के वर्णन 'चारी' के अंतर्गत देखे जा सकते हैं।

● चलने का तरीका—मंच पर प्रवेश, खड़े रहने के तरीके और डग भरने का क्रम बताया है। कौन सा पात्र (राजा, मंत्री, विदूषक, भृत्य) मंच में किस स्थान पर खड़ा हो, इसका भी विस्तार से विवरण दिया गया है। दो कलाकारों के साथ चलने की गति, विभिन्न लोक वासियों (देवता, दानव, यक्ष, राजा, पन्नग, राक्षस) की संचरण विधि का निदेश दिया है। विभिन्न रस और मनः स्थितियों में क्या अवस्थिति हो इसका विस्तृत विवरण है। अंधे या अंधेरे में कैसे चलना, रथारूढ़ की गति, धनुषधारी की अदा, सारथी भाव, विमान में बैठे देवता की गति, पर्वतारोही की चाल आकाशचारी, गिरता हुआ व्यक्ति, सीढ़ी चढ़ना उतरना, वृक्षारोहण, नदी पार करना — जल की गहराई के अनुसार गति, तीव्रधारा में बहना, नौकारोहण आदि सुन्दर विधान है। गज की सवारी, अश्वारोही, सर्प, विट, कंचुकीय, कृशकाय, दीर्घपथ यात्री, स्थूलकाय, श्रांत, मदोन्मत्त, उन्मादग्रस्त, विकलांग, वामन, विदूषक, भृत्य, छोटी जाति के लोग, म्लेच्छ, सिंह, भालू, बन्दर आदि के गतिरूप वर्णित हैं।

स्त्रियों की चालढाल के अंतर्गत उनके चलने और बातचीत करने के तीन स्थान बताये हैं—आयत, अवहित्थ, अश्वक्रांत। स्त्रियों की चाल में कमनीयता होनी चाहिये। मध्यवय और मध्य वर्ग की स्त्री, दासी के चलने के तरीके, श्रेष्ठ और हीन स्त्रियों की चाल बतायी है। बच्चे इच्छानुसार कूदते फांदते चलते हैं। हिजड़े स्त्रियों की तरह चलते हैं।

मंच पर चलने के दो तरीके बताये हैं जो स्थानीय परम्परा के अनुसार होने चाहिये।
दाहिने और बायें द्वार से प्रवेश की विधि विधान, मंच पर निकट तथा दूर तक चलने
की विधि, एक कक्ष या एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाने की विधि बतायी गयी है।

- **बैठने का तरीका**—आठ रूप वर्णित हैं। विश्रामावस्था, विचारविनिमय में, विषाद में मूर्च्छामादकता भ्रांति श्रम और निराशा में, रुग्णता, लज्जा और ध्यानमग्नता में, तर्पण भाव, मन्त्रपाठ, आचमन की स्थिति में, प्रिया को मनाने और आहूति डालते समय, पूजन, क्रोधशमन, विकल रुदन, मृतदर्शन, प्रेतमय आदि में बैठने का विधान बताया गया है। सामान्य लोगों के लिये बाह्य आसन और राजादिक के हेतु अभ्यान्तर आसन होता है। राजा और देवता सिंहासन पर, पुरोहित मन्त्री कुशासन पर, ब्राह्मण पीढ़े पर बैठते हैं।

- **शयन का तरीका**—छः प्रकार वर्णित हैं। अकुंचित, सम, प्रसरित, विवर्तित, उद्वाहित, नत।

इन गतियों और आंगिक अभिनय विधियों के सीखने का अर्थ है नाटककार द्वारा वर्णित मनोभाव की रसमयी अभिव्यंजना और विश्वसनीय पात्र एवम् स्थिति का सृजन।

संकलन—डॉ॰ भानुशंकर मेहता

वयोऽनुरूपः प्रथमन्तु वेषो, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतश्च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥

पहले तो वय के अनुरूप वेष भूषा होनी चाहिए। दूसरे वेष के अनुसार गति प्रचार, तीसरे गति प्रचार के अनुगत पठन पाठन, फिर पाठ्य के अनुकूल अभिनय चाहिए।

नाट्यशास्त्र में चारी-विधान

□ डॉ. प्रेमलता शर्मा

● विषयावतारणा

भरत के नाट्यशास्त्र में प्राप्त चारी - विधान का परिचय सूत्र-रूप में इस प्रकार दिया जा सकता है...१—"चारी" का वर्णन आंगिक अभिनय के अन्तर्गत हुआ है। कटी (कमर नहीं, अपितु नितम्ब-प्रदेश) ऊरु (जङ्घा, घुटने से टखने तक का भाग) और चरण—इनका एक साथ प्रयोग चारी है। २—"चारी' का उपयोग नृत्त में, शस्त्रमोक्ष (शस्त्र छोड़ने) में, युद्ध या नियुद्ध (मल्ल युद्धादि) में और अभिनय में बताया गया है। चारी-विधान के अध्ययन के प्रसंग में कुछ प्रश्न आरंभ में ही उठते हैं, जो इस प्रकार हैं—

१—नाट्य की समग्र योजना में चारी का क्या स्थान है ?

२—चारी के समकक्ष और भी कोई विधान नाट्य-शास्त्र में है या नहीं ?

३—नाट्य-शास्त्र में प्राप्त चारी-विधान को यदि भरत-सम्प्रदाय मानें तो उससे भिन्न कौन सा सम्प्रदाय आज उपलब्ध है और दोनों सम्प्रदाय में कोई पूर्वापर क्रम समझा जा सकता है या नहीं ?

४—"नृत्त" और "अभिनय" का स्वरूप क्या है ?

प्रथम और चतुर्थ प्रश्न का उत्तर एक साथ खोजना होगा और इसके लिये सबसे पहले नाट्य के चार तत्वों, उनमें से तृतीय तत्व अभिनय के चार प्रकारों आदि का विहंगम दर्शन आवश्यक होगा।

आङ्गिक अभिनय और नृत्त

नाट्य के चार तत्व हैं—पाठ्य, गीत, अभिनय और रस, जिनका ग्रहण क्रमशः ऋक्, साम, यजुस् और अथर्व वेदों से किया गया है। अभिनय पुनः चार प्रकार का है-आङ्गिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य। जिस प्रकार वेद को "त्रयी" कहकर उनकी संख्या तीन भी मानी जाती है और "चतुष्टय" कहकर चार भी, उसी प्रकार अभिनय प्रमुख

रूप से तीन ही प्रकार का होता है, उसका चौथा भेद आहार्य तो आवश्यक होते हुए भी नट यानी अभिनेता का कर्म नहीं है। वेद में आत्मा के जो तीन कारण माने गये हैं—प्राण, वाक् और मन, उन्हीं को भरत ने क्रमशः अङ्ग या काय, वाक् और सत्व कह कर - वागङ्गसत्व वाङ्मनःकाय मनोवाक्काय इत्यादि क्रमभेद से विभिन्न त्रिकों में रख कर अभिनय का निरूपण किया है। प्राण तत्व का प्रत्यक्ष प्राकट्य आंगिक चेष्टा में मान सकते हैं। वैसे तो वाक् और मन भी प्राण के संयोग से ही क्रियाशील हो सकते हैं, फिर भी प्राण की सीधी अभिव्यक्ति अङ्ग या काय या शरीर में ही होती है। शरीर के लिये अङ्ग शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। अङ्ग शब्द शरीर के अवयव के लिये भी प्रयुक्त होता है, और समूचे शरीर यानी अंगी के लिए भी। अतः आङ्गिक अभिनय का अर्थ हुआ शरीर के विभिन्न अंगी द्वारा अभिनय, जिसमें कि समूचे शरीर का एक साथ प्रयोग भी हो सकता है, और किसी अंग या अंग-समूह का विशेष प्रयोग भी हो सकता है।

"अभिनय" का अर्थ भी समझ लेना बहुत आवश्यक है, "णीञ्" धातु में "अच्" प्रत्यय और "अभि" उपसर्ग लगाने से "अभिनय" शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ हुआ अभिमुख यानी सामने लाने वाला। सामने किसे लाना है, इस प्रश्न का उत्तर नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में मिलता है। वहां यह कहा गया है कि "लोक" अर्थात् - जीवन के "भाव" और "कर्म" को अभिनय द्वारा ही प्रस्तुत करना ही नाट्य है। यथा—

> धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं ससङ्ग्रहम् ।
> भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम् ।। १/१४
> त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम् ।। १/१०७
> योऽयं स्वभावो लोकस्य सुखदुःखसमन्वितः ।
> सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ।। १/११९

भाव और कर्म का जोड़ा अविच्छेद्य है। ऐसा कौन सा कर्म होगा जिसके पीछे कोई भाव या चित्तवृत्ति न हो ? और ऐसा कौन सा भाव होगा जो किसी भी कर्म में प्रकट न होता हो ? फिर भी प्रतिपादन के लिए दोनों को कई बार पृथक रखकर बात कही जाती है। नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में भाव की बात कही गई है, जो की षष्ठ अध्याय में प्रतिपादित रस के साथ सम्बद्ध है। आंगिक अभिनय की बात आठवें से बारहवें अध्याय तक कही गई है। आठवें अध्याय के आरंभ में ही कहा गया है कि सात्विक अभिनय की बात तो भावों के साथ कह दी गई है। स्मरण रहे कि अश्रु, कम्प, पुलकादि आठ सात्विक अभिनयों को भरत ने भाव में गिना है। अर्थात् अश्रु, कम्प आदि भाव भी हैं और अभिनय भी। इस बात की व्याख्या यहां प्रासंगिक नहीं है। प्रासंगिक बात इतनी ही है कि सात्विक अभिनय भाव के साथ

अभिन्न है और आंगिक अभिनय कर्म के साथ। वाचिक अभिनय का भाव और कर्म दोनों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

जिस प्रकार अभिनय द्वारा भाव और कर्म को अभिमुख लाया जाता है, उसी प्रकार अभिनय स्वयं भावकर्मात्मक है। अंग या शरीर मुख्य रूप से कर्मात्मक है, किन्तु उसकी प्रत्येक चेष्टा में प्रकट रूप से नहीं, गूढ़ रूप से कहीं भाव न रहता हो, ऐसा नहीं कह सकते। भारतीय संस्कृति में देह को कर्माधार माना गया है। शिल्पशास्त्र में देह को कर्माधार कह कर साथ ही यह भी कहा गया है कि वह "कर्मभाव" का प्रदायक है। यह उल्लेख भी कर्म और भाव की अविच्छेद्य जोड़ी की ओर संकेत करता है। नामकरण प्राधान्य के आधार पर ही होता है, इसलिये अंग का प्रयोग जब मुख्य रूप से कर्मात्मक होता है, तब नृत्त कहलाता है और जब "भावात्मक" होता है तब अभिनय। भरत ने नृत्त और अभिनय ये दो ही संज्ञाएं रखी हैं, नृत्य संज्ञा नाट्यशास्त्र में नहीं मिलती क्योंकि उसमें नृत्त और अभिनय का ही संयोग है। इसलिए भरत के नृत्त को "ताललयाश्रय" मात्र अथवा "गात्रविक्षेपमात्र" नहीं मान सकते। पूर्वरंग के वर्णन में चतुर्थ अध्याय में नृत्त का वर्णन हुआ है, जिसमें १०८ करण, ३२ अंगहार और ४ रेचक कहे गये हैं। ध्यान देने की बात है कि इन सबको आंगिक अभिनय में नहीं रखा गया है। प्रश्न हो सकता है कि नृत्त में "भाव" का सर्वथा अभाव है क्या ? इसका उत्तर स्वयं भरत ने नृत्त को उद्धत और सुकुमार कह कर दे दिया है। उनका तात्पर्य यह है कि "लोक" के किसी विशेष भाव या कर्म को लिये बिना जब नृत्त में अंग-प्रयोग होगा तब वह अभिनय भले ही न हो, किन्तु उद्धत और सुकुमार इन दो में से किसी एक में उसे अवश्य रखना होगा। जब लोक के कोई कर्म-विशेष अथवा भाव-विशेष प्रस्तुत न हों, तब भी प्रयोक्ता और श्रोता दोनों के चित्त को नकारना संभव नहीं है। उस स्थिति में उद्धत-सुकुमार या परुष–ललित या औजस्–माधुर्य इन दो विशाल कोटियों में से किसी एक में 'प्रयोग' को रखना होगा, जिससे चित्त की "दीप्ति" अथवा "द्रुति" का संकेत हो सके।

अब शरीर के अङ्गों (अवयवों) के विषय में कुछ चर्चा प्रासंगिक होगी। वैदिक धारा में अंग शब्द के साथ ६ की संख्या जुड़ी हुई है। वेदांग ६ हैं। आयुर्वेद में भी मानव शरीर के ६ अंग माने गये हैं। नृत्य में भी अंग ६ ही माने गए हैं। यथा शिर, हस्त, वक्ष, पार्श्व कटी और चरण। इनमें से हस्त और चरण तो शरीर के दो छोर या अग्र भाग (extremities) हैं। शिर शरीर की ऊर्ध्व रेखा की सीमा है। वक्ष, पार्श्व और कटी धड़ के भाग है। इतना उल्लेख आवश्यक है कि कटी का अर्थ यहां कमर नहीं है अपितु कूल्हे या नितम्ब है।

शिल्प शास्त्र में अंगों का विभाजन कुछ भिन्न प्रकार से हुआ है। वहां वैदिक रूप से "पुरुष" या मानवशरीर की कल्पना की गई है। इसलिये केवल खड़ी रेखा को ध्यान

में रखा गया है और बाहु या हस्त को पृथक रूप से नहीं गिना गया है। खड़ी रेखा को पहले ६, फिर ८, १० और १४ खंडों में विभाजित करके अंगों की गणना की गई है। यथा—

६ अङ्ग :—१. पार्थिवाङ्ग (पैर जो पृथ्वी पर टिके रहते हैं), २. कर्माङ्ग (टखने से घुटने तक का भाग), ३. अधोऽङ्ग (ऊरु), ४. प्रजननाङ्ग, ५. उत्तमाङ्ग[1] (धड़), ६. तुङ्गाङ्ग (शिर)

८ अंग :—१. पार्थिवाङ्ग, २. कर्माङ्ग ३. अधोङ्ग, ४. प्रजननाङ्ग, ५. उत्तमाङ्ग (उधर), ६. प्राणाङ्ग (हृदय), ७. तूङ्गाङ्ग (ग्रीवा से भ्रू तक), ८. ज्योतिरङ्ग (भ्रू से ऊपर का शिरोभाग)।

१० अङ्ग :—१. अधोऽङ्ग (ऊपर की तरह), ५-६. मध्याङ्ग (जानु और कटी), ७-८. उत्तमाङ्ग (उदर और हृदय), ९-१०. तुङ्गाङ्ग (कण्ठ और मूर्धा)।

योग के अष्टांग कहे गये हैं, इसलिये अंग के साथ अष्ट की संख्या का सम्बन्ध आगम की परम्परा का द्योतक माना जा सकता है।

नृत्त और अभिनय में शरीर की गतिशीलता प्रधान है। इसलिये यहां हस्त को भी मुख्य ६ अंगों में गिना गया है। हस्त का अभिनय में वही स्थान है, जो चरण का नृत्त में।

उपाङ्ग और प्रत्यङ्ग की गणना भी समझ लेनी चाहिये। भरत ने नेत्र, भ्रू, अधर, कपोल आदि मुख के भागों को उपाङ्ग कहा है। इसी का अनुसरण करते हुए शाङ्गंदेव ने १२ उपाङ्ग कहे हैं—दृष्टि, भ्रू, कपोल, नासा, अनिल (श्वास), अधर, दन्त, जिह्वा, चिबुक और वदन। शाङ्गंदेव ने ग्रीवा, बाहु, पृष्ठोदर, जठर, ऊरु, जङ्घा, मणिबन्ध और जानु—ये आठ "प्रत्यङ्ग" कहे हैं। भरत ने प्रायः इन सब का वर्णन तो किया है, किन्तु इन्हें प्रत्यङ्ग संज्ञा नहीं दी है।

आंगिक अभिनय के तीन भेद भरत ने दो प्रकार से कहे हैं। एक त्रिक है—शारीर, मुखज तथा चेष्टाकृत और दूसरा त्रिक है—शाखा, अंकुर और नृत्त। शाङ्गंदेव ने केवल दूसरे ही त्रिक का उल्लेख किया है। शाखा की व्याख्या "विचित्रा करवर्तना"

---

1. यहाँ उत्तम विशेषण का प्रयोग कुछ भ्रामक लगता है, उसका कारण यही है कि शरीर को जब उत्तम, मध्यम और अधम इस प्रकार तीन भागों में बांटा जाता है तब उत्तम से सिर, मध्यम से धड़ और अधम से धड़ के नीचे पैर तक का भाग समझा जाता है।

कह कर दी गई है। शाखा शब्द से ही स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध भुजा और हस्त से होना चाहिए (संगीत रत्नाकर, नर्तनाध्याय/श्लोक ३५)।

मनुष्य शरीर में बाहु और हस्त का वही स्थान है जो वृक्ष में शाखा का। संभवतः इसीलिये "करवर्तना" को शाखा नाम दिया गया है। अंकुर को शाङ्र्गदेव ने 'भूत वाक्यार्थ' का उपजीवी बताया है। 'भूत वाक्यार्थ' के दो अर्थ समझे जा सकते हैं। एक तो यह कि जो वाक्य कहा या गाया जा चुका हो, उसका अभिनय अथवा भूतकाल की घटना को लेकर जो भी वाक्यार्थ हो उसका अभिनय। दूसरे अर्थ में कठिनाई यही है कि उससे अभिनय का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाता है, वर्तमान घटना के लिए उसमें कोई स्थान ही नहीं रह जाता है। इसलिए पहला अर्थ ही अधिक उचित प्रतीत होता है। अंकुर के समकक्ष दूसरा नाम है सूची जिसे भावी वाक्यार्थ का उपजीवी कहा गया है। यहां भी भावी वाक्यार्थ से यही अर्थ लेना उचित होगा कि जो वाक्य कहा या गाया जाने वाला हो, उसका अभिनय। सूची की गणना पृथक रूप से नहीं की गई है, उसे अंकुर का ही प्रकारान्तर समझ सकते हैं। नृत्त को करण और अंगहारों से युक्त कहा गया है। ध्यान देने की बात है कि यहाँ "नृत्त" को आङ्गिक अभिन्न का ही भेद कहा गया है जिससे स्पष्ट है कि अभिनय और नृत्त सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है।

शारीर, मुखज और चेष्टा-कृत इस त्रिक में से केवल मुखज के लिए भरत ने कहा है कि उसमें वे सर्वप्रथय शिर की बात करेंगे। कुछ ऐसा लगता है कि शिर और नेत्र, भ्रू आदि उसके उपाँगों को एक इकाई मानकर मुखज अभिनय कहा गया हैं। इससे भिन्न अन्य अंगों के कर्म को शरीरज और एकाधिक अंगों के सम्मिलित कर्म को संभवतः "चेष्टा" कहा गया है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि "मुख" से भिन्न किसी "अङ्ग" पर जब प्रयोक्ता और प्रेक्षक का अवधान केन्द्रित हो, तब शरीरज अभिनय होगा और किसी अङ्-समूह की सम्मिलित गति को "चेष्टा" कहा जाएगा। उदाहरण के लिए "हस्त" में हाथ पर अवधान केन्द्रित होगा, अतः उसे शरीरज अभिनय कह सकते हैं, किन्तु जब बाहु की कोई 'वर्तना, होगी तब केवल हाथ पर अवधान केन्द्रित न होकर 'वर्तना', पर अर्थात पूरे बाहु की गति पर केन्द्रित होगा और उसे चेष्टा कह सकेंगे। इस प्रकार चारी को "चेष्टा" कह सकते हैं।

चारी - विधान

आरम्भ में जो चार प्रश्न हमने उठाये थे, उनमें से प्रथम और चतुर्थ प्रश्न पर हमने अब तक विचार किया। अब चारी-विधान का संक्षेप में अवलोकन करते हुए आनुषङ्गिक रूप से द्वितीय और तृतीय प्रश्नों की चर्चा भी हो जाएगी। आरम्भ में इतना ही संकेत पर्याप्त होगा कि चारी के समकक्ष है "गति" और भरत-सम्प्रदाय से भिन्न सम्प्रदाय नन्दिकेश्वर के नाम से सम्बद्ध है।

नाट्य शास्त्र के गायकवाड़ संस्करण के दशम अध्याय का नाम है चारा-विधान । वैसे चारी की थोड़ी सी चर्चा पूर्वरंग के प्रकरण में चतुर्थ और पंचम अध्याय में भी हुई है। (दृष्टव्य ४ : २७४ तथा ५ : २७, १२३, १२४) । इसके अतिरिक्त "मंडल-विकल्पन" (एकादश अध्याय) में भी चारी की चर्चा स्वाभाविक रूप से आई है। चारी के निकटतम शब्द है गति। और इसके लिए भी नाट्यशास्त्र का द्वादश अध्याय "गति प्रचार" नाम से प्राप्त है। चारी का अध्ययन करते समय हमें गति का भी यत्किंचित् अवलोकन करना होगा।

भरत सम्प्रदाय के अनुसार चारी का वर्णन संगीतरत्नाकर के नर्तनाध्याय में विस्तार से हुआ है । नाट्य शास्त्र और संगीतरत्नाकर के बीच कड़ी है अभिनव गुप्त पादाचार्य की "अभिनव भारती" जो कि नाट्यशास्त्र की एकमात्र उपलब्ध टीका है। भरतोक्त चारी-विधान को समझने के लिये अभिनव भारती और संगीतरत्नाकर का भी हमें अवलोकन करना होगा।

पाद, जंघा (घुटने का नीचे टखने तक का भाग), ऊरु, (घुटने से ऊपर का भाग) और कटी—इन चार का एक साथ जो कर्म या चेष्टा हो वह चारी है। स्पष्ट है कि कमर से निचले अंगों की सम्मिलित क्रिया चारी है। इनमें से पाद या चरण और कटी ये दो तो अंग है यानि शरीर के मुख्य ६ अंगों में इनका स्थान है। और जंघा तथा ऊरु प्रत्यंग हैं। इसलिये चारी और गति को समानार्थक मान लेने की भूल हो सकती है अर्थात् ऐसा समझ में आ सकता है कि चलने के विभिन्न प्रकार ही चारी हैं। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। चारी में पाद आदि की क्रिया तो है, किन्तु वह क्रिया कुछ चारी-भेदों में एक स्थान पर खड़े-खड़े भी हो सकती है। यह सत्य है कि अधिकांश चारी-भेदो में चलना होता ही है. किन्तु वहाँ पाद आदि की क्रिया-विशेष ही भेदक होती है, जबकि गति में चलने की लय मुख्य भेदक तत्व है।

चारी का एक अन्य नाम भी नाट्य शास्त्र में कहा गया है और वह है व्यायाम। व्यायाम शब्द में एक से अधिक चारियों का प्रयोग अन्वित है। एकाधिक चारियों के प्रयोग में कोई एक चारी प्रधान होगी, वही प्रथम भी होगी। उसके बाद वाली चारियाँ परम्परा परस्पर सम्बद्ध रहेंगी और इनके सम्बन्ध का नियामक होगा औचित्य। औचित्य से यह तात्पर्य है कि एक चारी के बाद दूसरी ऐसी ही चारी आयेगी जो कि पहली के 'उचित' हो यानी उससे मेल खाती हो, बेमेल न हो। प्रथम चारी कौन-सी होगी, इसका निर्णय उस अंग से होगा जो प्रधान हो। जैसे अभिनय में हस्त प्रधान है, वैसे ही चारी में चरण या पाद प्रधान अंग है। जिस चरण-भेद का प्रयोग इष्ट होगा उसकी उपयोगिनी चारी प्रधान होगी और प्रथम होगी, बाद की चारियाँ क्रमशः औचित्य के आधार पर परस्पर जुड़ती चली जायेंगी। इस प्रकार अनेक चारियों का संयोग, व्यायाम कहलाता है।

चारी या व्यायाम के चार भेद कहे हैं—चारी, करण, खण्ड, मण्डल। ध्यान देने की बात है कि चारी सामान्य संज्ञा भी है, जिसका पर्याय है व्यायाम और विशेष संज्ञा भी है जो कि व्यायाम या चारी का एक भेद मात्र है। ऐसी स्थिति अनेक पारिभाषिक शब्दों के प्रसंग में मिलती है। जैसे—वाद्य और गीत के मुख्यत्व-गौणत्व सम्बन्ध का नाम है वृत्ति। वृत्ति के तीन भेद हैं—दक्षिणा, वृत्ति और चित्रा। इस प्रकार वृत्ति सामान्य संज्ञा भी हुई और विशेष भी। चारी के प्रसंग में भी ऐसी बात है। विशेष चारी संज्ञा का प्रयोग वहाँ होता है जहाँ एक पैर से "प्रचार" हो। अर्थात् जो क्रिया एक पैर से निष्पन्न हो। दो पैरों से निष्पन्न होने वाली क्रिया का नाम है करण, और यह करण नृत्य करणों से पृथक समझना चाहिये। तीन करणों से खण्ड और तीन खण्डो से मण्डल बनता है। त्र्यस्र ताल में तीन खण्डों से तथा चतुरस्र ताल में चार खण्डों से मण्डल होगा, ऐसा अभिनवगुप्तपाद ने कहा है। भरत ने तो केवल तीन और चार खण्डों का विकल्प कह दिया है।

यहाँ तक तो चारियों के संयोग-जनित भेदों की बात हुई। अपने आप में चारी मुख्य रूप से दो ही प्रकार की है—भौमी और आकाशिकी। भौमी चारी में पैर प्रायः पृथ्वी से संलग्न रहते हुए ही क्रिया करता है और आकाशिकी में पैरों पृथ्वी से अलग होकर क्रिया करता है। क्रिया का अवसान पैर को वापस पृथ्वी पर रखने पर ही होता है। नाट्य शास्त्र में १६ भौमी चारी और १६ आकाशिकी चारी कही गई हैं। संगीतरत्नाकार में इन भरतोक्त चारियों को मार्ग विशेषण दे दिया गया है और इनके अतिरिक्त ३५ भौमी और १९ आकाशिकी चारी देशी विशेषण के साथ दी गई हैं। यहाँ देशी विशेषण के दो अर्थ समझे जा सकते हैं—एक तो यह कि प्रादेशिक परम्परा में जिनका स्थान रहा हो और दूसरे यह कि जिनका नाम और लक्षण नाट्यशास्त्र के बाद निर्धारित हुआ हो।

भरत सम्प्रदाय के अतिरिक्त उल्लेख योग्य सम्प्रदाय है नन्दिकेश्वर सम्प्रदाय। इस सम्प्रदाय के दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—अभिनय दर्पण और भरतार्णव। दोनों में चारी का बहुत ही संक्षिप्त निरूपण है। अतः भरतोक्त चारी विधान के अध्ययन में इन दोनों ग्रन्थों का कोई विशेष योगदान नहीं हो सकता। कल्लिनाथ ने कोहल के नाम से कुछ अन्य चारियाँ दी हैं, किन्तु कोहल का ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। भरत और नन्दकिशोर के सम्प्रदायों में काल की दृष्टि से पूर्वापर-क्रम को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कोई नन्दिकेश्वर को भरत से पूर्ववर्ती और कोई परवर्ती मानते हैं। हमें ऐसा लगता है कि यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। भारतीय संस्कृति में विविधता के प्राचुर्य को देखते हुए यही मानना उचित होगा कि दोनों ही सम्प्रदाय दीर्घकाल तक साथ चलते रहे होंगे। इतना अवश्य है कि बीसवीं शताब्दी में पुनरुद्धार (reconstruction) के जो यत्न हुए हैं, उनमें नन्दिकेश्वर के अभिनयदर्पण का आधार विशेष रूप से लिया गया है (उदाहरणार्थ भरतनाट्यम् में)।

चारी में कमर से लेकर पैर तक के अंग-प्रत्यंगों को एक साथ लेने का सीधा कारण यही है कि इन सब की क्रिया परस्पर जुड़ी हुई या एक दूसरे पर अवलंबित रहती है। चरण की क्रिया के साथ-साथ ऊरु तक का भाग अवश्य ही गतिशील होता है और कटी की क्रिया भी ऊरु के साथ संबद्ध है। इसलिये कटी, ऊरु, जंघा और चरण इन चारों के कर्म अलग अलग बता कर भी पुनः चारी के रूप में इन सब का सम्मिलित कर्म बताया गया है। यह कुछ वैसी ही बात है जैसे हस्त के भेद पृथक रूप से कहकर फिर से बाहु-भेद भी कहे गये हैं। हस्त की क्रिया करने में बाहु में गति आती है और बाहु की क्रिया भी हस्त के बिना नहीं हो सकती है, फिर भी दोनों को पृथक कहने का औचित्य इसमें है कि नृत्त अथवा अभिनय के घटकों को पृथक-पृथक देखा जा सके। जैसे भाषा में प्रायः कोई भी ध्वनि अकेले-अकेले अर्थवान् नहीं बनती, फिर भी वर्णमाला के रूप में सभी ध्वनियों को व्याकृत करके देखा ही जाता है, उसी प्रकार आङ्गिक अभिनय में भी अनेक कर्म एक साथ होते ही हैं। फिर भी प्रत्येक का लक्षण पृथक रूप से दिया गया है। और फिर कुछ सम्मिलित प्रकार भी कहे गये हैं।

मिलाकर जो कर्म कहे गये हैं वे हैं वर्तना, जिसमें बाहु और हस्त दोनों अन्वित हैं, चालक (जो वर्तना के सदृश ही हैं), चारी, करण, अङ्गहार और मण्डल। चारी को वर्तना या चालक के समकक्ष समझ सकते हैं।

भरतोक्त १६ भौमी और १६ आकाशिकी चारियों के नाम इस प्रकार हैं :—

भौमी चारी—१. समपादा, २. स्थितावर्ता, ३. शकटास्या, ४. अध्यर्धिका, ५. चाषगति, ६. विच्यवा, ७. एल(ड)का क्रीडिता, ८. बद्धा, ९. ऊरुद्वृत्ता, १०. अड्डिता, ११. उत्स्पन्दिता, १२. जनिता, १३. स्यन्दिता, १४. अपस्यन्दिता, १५. समोत्सरितमत्तल्ली, १६. मत्तल्ली।

आकाशिकी चारी—१. अतिक्रान्ता, २. अपक्रान्ता, ३. पार्श्वक्रान्ता, ४. ऊर्ध्वजानु, ५. सूची, ६. नूपुरपादिका, ७. दोलापादा, ८. आक्षिप्ता, ९. आविद्धा, १०. उद्वृत्ता, ११. विद्युद्भ्रान्ता, १२. अलाता, १३. भुजङ्गत्रासिता, १४. हरिणप्लुता १५. दण्डपादा, १६. भ्रमरी।

इन सब चारी-भेदों की व्याख्या तो उतनी आवश्यक नहीं है, किन्तु कुछ उदाहरणों द्वारा निम्नलिखित सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण उपयोगी होगा।

१—स्थिति के आधार पर ही गति हो सकती है, यह विज्ञान सम्मत तथ्य है। इसका स्पष्ट उदाहरण है प्रथम भौमी चारी, जिसका नाम है समपादा। "समपाद" स्थानक में स्थित होना अर्थात् दोनों पैर एक दूसरे के साथ जोड़ कर 'समनख' कर के खड़े रहना, इतना ही इसका लक्षण भरत ने दिया है। इसे "चारी" कहने का यही

आधार है कि इस में "चरण" की योग्यता है अर्थात् चारी करने से ठीक पूर्व की यह स्थिति है। यह अभिनवगुप्तपाद की व्याख्या है। इसी की पुष्टि शाङ्गंदेव ने की है। यथा—प्रचारयोग्यतामात्राच्चारी स्थानेऽप्यसौ मता ॥ (७-९१८) ॥ भरत ने दशम अध्याय में चारियों का वर्णन करने के तुरन्त बाद ही स्थानकों का वर्णन यह कह कर आरम्भ किया है :—

> एताश्चार्यो मया प्रोक्ता ललिताङ्गक्रियात्मिकाः ।
> स्थानान्यासां प्रवक्ष्यामि......................॥ (ना० शा० ४-१०-५०)

इसका अर्थ यह हुआ कि "चारी" के ठीक पूर्व की स्थिति है "स्थान" और इसलिए "स्थान" का चारी के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है।

२—चारी-भेदों में अभिनय "अभिनय" और "नृत्त" के आधार पर विभाजन न तो सम्भव है और न उचित ही। अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक चारी-भेद अभिनयात्मक (Representational) हैं और अमुक केवल नृत्तोपयोगी (non-representational) हैं। एडकाक्रीडिता (बकरी जैसी चाल), शकटास्या (गाड़ी या छकड़े के मुँह यानी सामने के भाग जैसी चाल), चाषगति (हल की गति जैसी चाल), मत्तल्ली (मतवाले व्यक्ति की चाल), भुजङ्गत्रासिता (सर्प से डरे हुए व्यक्ति का सूचन जिसमें हो) इत्यादि नाम किसी न किसी प्रकार के "अभिनय" के सूचक हैं, किन्तु इन चारियों का नृत्त में भी प्रयोग होता ही है। दूसरी ओर कुछ चारी नाम ऐसे भी हैं जिनसे किसी "अभिनय" का स्पष्ट संकेत नहीं मिलता—यथा, विच्यवा या जनिता। ऐसा लगता है कि प्रयोग में प्रायः सभी चारियां नृत्त अथवा अभिनय में उपयोगी हो सकती है। दोनों में स्पष्ट सीमारेखा निर्धारित करना न तो सम्भव है और न ही आवश्यक।

३—भौमी और आकाशिकी का विभाजन भी सापेक्ष है अर्थात् भौमी चारी में पैर का कोई न कोई भाग प्रायः भूमि से संलग्न रहेगा, इतना ही कह सकते हैं, किन्तु किसी-किसी भौमी चारी में पैर थोड़ा सा भूमि से उठता भी है। यथा - एडका क्रीडिता में "तलसंचर" अर्थात पंजों पर चलने की बात है, किन्तु पंजे सब समय भूमि से संलग्न नहीं रह सकेंगे, क्योंकि "उत्प्लुति" (उछलने) की बात भी कही गई है। यह सत्य है कि अधिकांश भौमी चारियों में पैर का कोई न कोई भाग भूमि से संलग्न रहता है।

४—किसी-किसी चारी-भेद में थोड़ी सी "विकट" (acrobatics) क्रिया भी कही गई है। जैसे—विद्युद्भ्रान्ता चारी में पीछे की ओर "वलित" शिर को पीछे ले जाए गए एक पैर से छूकर चारों ओर घूमकर फिर पैर को पसार देना है।

५—कई चारी-भेद ऐसे भी हैं जिनमें एक ही स्थान पर खड़े-खड़े कुछ क्रिया करना होता है। जैसे—विच्यवा चारी में "सम्पादा" के पैरों के तलाग्र (पंजे) से धरणी पर "निकुट्टन" करना यानी वार-बार आघात करना होता है। आकाशिकी चारियों में भी कई ऐसे भेद हैं। यथा—दण्डपादा चारी में एक पैर को "नूपुरचरण" बना कर उसे दूसरे पैर की एड़ी से सटा कर फिर वेग से उसी पहले पैर को अपने सामने की ओर "जानु" की सीध में पसार देना होता है। ऐसे चारी-भेदों को देखने से चारी और गति का भेद स्पष्ट हो जाता है। "गति" में तो कोई न कोई चारी रहेगी ही, किन्तु चारी में "गति" (चलना) भी रहे, यह अनिवार्य नहीं है।

चारी का महत्व बताते हुए भरत ने जो कुछ कहा है और चारी के साथ अन्य अंगों का जो सामंजस्य बताया है—वह उन्हीं के शब्दों में देख लेना आवश्यक है।

> यदेतत्प्रस्तुतं नाट्यं तच्चारीष्वेव संस्थितम।
> न हि चार्या विना किंचिन्नाट्येऽङ्गं संप्रवर्तते ॥
> तस्माच्चारीविधानस्य संप्रवक्ष्यामि लक्षणम्। (ना० शा० १०/६,७)
> यतः पादस्ततो हस्तो यतो हस्तस्ततस्त्रिकाम् ॥ [1]
> पादस्य निर्गमं कृत्वा तथोपाङ्गानि योजयेत् ॥
> पादचार्यां यथा पादो धरणीमेव गच्छति।
> एवं हस्तश्चरित्वा तु कटीदेशं समाश्रयेत् ॥ (ना० शा० १०/४८,४९)

"जहां" (जैसा) पाद है, वहां (ऐसा) हस्त रहेगा, जहां हस्त है, वहां "त्रिक" रहेगा; पाद का निर्गम (निश्चय) करके, तदनुसार उपाङ्गों की योजना करनी चाहिए। पादचारी करने बाद जैसे पैर धरणी पर ही विश्राम करता है, वैसे ही 'चरण' या क्रिया करने के बाद हस्त कटीदेश पर टिकाया जाता है"।

"चारी" अध्ययन से भरत की व्यापक दृष्टि, अंग-संयोजन का सूक्ष्म निरीक्षण (Observation) और शब्दों द्वारा अंगों की गतिविधि को व्यक्त करने की अद्भुत क्षमता का परिचय मिलता है जो भारतीय प्रज्ञा के प्रति नतमस्तक होने को हमें बाध्य करता है। ००

कृतज्ञता - प्रकाश

नाट्यशास्त्र और संगीत रत्नाकर में पूरे चारी-प्रकरण को मैंने नृत्याचार्य श्री को. वे. चन्द्रशेखर और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती जया चन्द्रशेखर के साथ बैठकर पढ़ा है और सप्रयोग समझने का यत्न किया है। उन दोनों परम स्नेही सहयोगियों का यहां कृतज्ञतापूर्वक स्मरण अभीष्ट है।

1—"त्रिक" की व्याख्या में अभिनवगुप्तपाद ने "उपाङ्गानि" कह कर उपाङ्ग का ग्रहण किया है। सिंहभूपाल ने भी "त्रिक" के लिए "अङ्गोपांगानि" कहा है।

"वाग्वै विश्वाभूतानिजज्ञे"

वाचिक अभिनय

□ डॉ० भानुशंकर मेहता

भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र के १४ से १७वें अध्यायोंमें वाचिक अभिनय, छन्द, वृत्त, लक्षण, अलंकार, रस, अक्षरविन्यास, भूषण, संस्कृत और प्राकृत पाठ, देशीभाषाएँ, पात्र अनुरूप भाषा का विधान संबोधन, नाम पाठ के गुण (स्वर, स्थान, वर्ण, काकु, अलङ्कार और अङ्ग) तथा उनका उपयोग विराम और लय की चर्चा की है क्योंकि उनका निर्देश है कि—

वर्जितं काव्य दोषैस्तु लक्षणाढ्यं गुणान्वितम् ।
स्वरालंकार संयुक्तं पठेत्पाठ्यं यथाविधि ॥

अर्थात्—काव्य के दोषों से वर्जित, लक्षणों से सम्पन्न, गुणों से युक्त तथा स्वरों और अलङ्कारों से सुशोभित पाठ को विधिवत् पढ़ना चाहिये ।

आधुनिक (पाश्चात्य शास्त्रों के अनुसार) वाचिक अभिनय शास्त्र 'आर्ट आफ स्पीच' या 'इलोक्यूशन' के अन्तर्गत आता है और तुलनात्मक अध्ययन करने पर प्राचीन और नवीन में कोई बुनियादी अन्तर नहीं दिखता। फिर भी दृष्टि-भेद तो हैं ही। भारत में नाद को ब्रह्म कहा है या भरत के शब्दों में —

वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च ।
तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग्हि सर्वस्य कारणम् ॥

अर्थात्—समस्त वेदादिशास्त्र और समूचा वाङ्मय वाणी पर निर्भर करता है अतः वाणी से बढ़कर अन्य कुछ भी नहीं है। वाणी ही सम्पूर्ण विश्व का कारण है।

और नाटक में वाणी अभिनय का शरीर है।
'वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्येयं तनु स्मृता।'

अतः अभिनेताओं को वाणी के विषय में विशेष प्रयत्न करना चाहिये या कहें कि 'बोलने की कला' सीखनी चाहिये।

यही नहीं 'वाणी' की महिमा कहते हुए भरतमुनि आंगिक, आहार्य और सात्विक अभिनय को भी वाचिक-अभिनय का ही अङ्ग बताते हैं क्योंकि ये भी 'कुछ' कहते हैं। (वाक्यार्थं व्यञ्जन्तिहि)।

पाश्चात्य दर्शन में वाणी को इतनी महिमा नहीं प्रदान की गयी है यद्यपि शेक्सपीयर ने 'वाणी' (स्पीच) की ठीक से बोलने के बारे में अपने नाटक "हैमलेट" में सुन्दर निर्देश दिये हैं।

दूसरी बात जो आधुनिक शास्त्र में स्पष्ट रूप से नहीं कही जाती वह है 'रस' की बात और भारतीय वाङ्मय तो 'रस' से ओतप्रोत है ही !

पुनः भारतीय मनीषियों ने वाणी को सङ्गीत से जोड़ा है अतः बोलना सीखने के लिए सङ्गीत के सप्त स्वर और लय का ज्ञान अनिवार्य हो जाता है। स्वर ही नहीं स्थान मंद्र-मध्य और तार सप्तकों की जानकारी भी अपेक्षित है।

यदि हम प्राचीन संस्कृत या प्राकृत नाटक खेलना चाहते हैं तो फिर हमें भरत मुनि के शास्त्र का आश्रय लेना ही होगा। इन अध्यायों में मुनिवर ने देश में प्रचलित बोलियों और उनके भेद स्पष्ट किये हैं साथ ही किस पात्र को कौन-सी बोली बोलनी चाहिये (जिससे वह विश्वसनीय पात्र प्रतीत हो) तथा पात्रों का नाम-करण एवं सम्बोधन कैसे हो यह भी स्पष्ट किया है।

आज भी हमारे देश में नाना प्रकार की भाषाएँ और बोलियाँ प्रचलित हैं और नाटककार तथा निदशक को उनका (उनके अलिखित व्याकरण का) सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिये।

एक और अनूठी चीज है 'काकु'। हिन्दी नाटक में 'शब्द' की चर्चा अभी हाल की बात है। शब्द या वाक्य कागज पर लिखे जा सकते हैं पर वास्तव में अभिनय करते समय उन्हें कैसे बोला जाय यह तो कलाकार या निर्देशक के अनुभव और ज्ञान पर ही निर्भर है ! और इसमें भी सन्देह नहीं कि 'काकु' के ज्ञान बिना, लहजा या 'मोड्यूलेशन' की जानकारी बिना, सही अर्थ की अभिव्यंजना हो ही नहीं सकती। इसी कारण बहुत से अनभिज्ञ निर्देशक बहुधा हैरान रह जाते हैं कि वे जहाँ दर्शक में करुण भाव जगाना चाहते थे वहाँ क्यों हास्य स्फुरित हो गया !

आधुनिक "एलोक्यूशन" की पाठ्य पुस्तकों में वाणी उत्पादक यन्त्र की रचना, श्वास प्रक्रिया का विश्लेषण और उस पर नियन्त्रण के अभ्यास से चर्चा आरम्भ होती है। भरत ने इनकी चर्चा नहीं की है क्योंकि "प्राणायाम करने वाले देश में "द्रविड़ प्राणायाम" करने की आवश्यकता ही कहाँ थी !

आगे आधुनिक पाठ्य पुस्तकों में वाणी के उद्भव की चर्चा होती है : फेफड़े स्वर यन्त्र— कण्ठ-जिह्वा-मुख-नासिका तालु तथा स्वर को आंदोलित करने हेतु शिर और नासिका विवरों (साइनसों तथा नैसल कैविटीज़) का महत्व बताया जाता है। भरत ने इसे योग तथा चिकित्सा-शास्त्र के लिये छोड़ दिया है। वे आरम्भ करते हैं—वाणी के महत्व से जैसा आरम्भ में कहा जा चुका है। आगे की चर्चा इस क्रम से है —

तेरहवें अध्याय के अन्त में भरत कहते हैं कि अब मैं स्वर एवं व्यंजन वर्णों से युक्त वाक्याभिनय को कहूँगा। (पुनश्च वाक्याभिनयं यथावद्वक्ष्ये स्वरव्यंजन वर्णयुक्तम्।— ८६)।

वाचिक अभिनय की चर्चा आरम्भ करते हुए भरत कहते हैं वाचिक अभिनय स्वर एवम् व्यंजन से ही सम्भव है। (१)

वे वाचिक-अभिनय को मुख्य बताते हैं। और यह अभिनय सम्पन्न होता है इन बारह अंगों द्वारा —

१. आगम — (शब्द प्रमाण, वेद शास्त्र आदि)
२. नाम — (संज्ञा, 'नाउन')
३. आख्यात — (क्रियापद, 'वर्ब')
४. उपसर्ग — (प्रीफिक्स)
५. निपात — (सहायक शब्द जो वाक्यार्थ में नयी विविक्षा लाते हैं)
६. तद्धित — (प्रत्यय जिसे नामपदों में जोड़कर शब्द बनाते हैं)
७. समास — (दो या अधिक पदों के संयोजन से बने संक्षिप्त पद)
८. सन्धि — पास-पास स्थित पदों के निकटस्थ वर्णों के मेल से होने वाला विकार)
९. वचन — नाम तथा क्रिया पदों से व्यक्त होने वाला संख्याभाव)
१०. विभक्ति-- (नाम पदों से क्रिया आदि का सम्बन्ध जोड़ने वाला चिह्न)
११. उपग्रहलिङ्ग (पुलिङ्ग स्त्रीलिंग नपुंसकलिंग 'जेंडर')
१२. धातु (शब्दमूल जिनसे शब्द विस्तार होता है। 'वर्बरुट्स')

संस्कृत भाषा या पाठ के लिये उपरोक्त अंगों की जानकारी अनिवार्य है। पाठ का दूसरा रूप हैं : प्राकृत।

वे १४ स्वर और ३३ व्यंजन बताते हैं इन वर्णों (१४+३३=४७) के आठ उद्गम स्थल हैं (१) उर (२) कण्ठ (३) शिर (४) जिह्वामूल (५) दन्त (६) नासिका (७) ओष्ठ (८) तालु

अ आ, क-वर्ग, ह तथा अः—कण्ठ से
इ, ई, च-वर्ग, य तथा श—तालु से
ऋ, ट-वर्ग, र तथा ष—मूर्धन्य
ऌ ॡ, त-वर्ग, ल तथा स—ओठ से
⌣ क ख (अर्धविसर्ग चिह्नयुक्त, जिह्वामूलीय) संस्कृत भाषा के विशेष उच्चारण
⌣ प, फ, (अर्धविसर्ग चिह्नयुक्त, उपध्मानीय)
ए, ऐ—कण्ठ और तालु से
ओ, औ—कण्ठ और ओठ से
व—दन्त और ओठ से
ङ, ञ, ण, न और म—नासिक्य
कख, चछ, टठ, तथ, पफ, शषस=अघोष
गघङ, जझञ, डढण, दधन, बभम, यरलव=घोष वर्ण हैं
उद्भवस्थान की दृष्टि से क-वर्ग कंठ्य, च-वर्ग तालव्य, ट-वर्ग मूर्धन्य
त-वर्ग दन्त्य, पवर्ग ओष्ठ्य, हैं।

आगे वे संवृत तथा विवृत स्वर, उष्माण, स्वरित, सवर्ण. ह्रस्व-दीर्घ स्वर का विधान बताते हैं। फिर व्याकरण के अंगों की परिभाषा करते हुए शब्द, पद, छन्द आदि की व्याख्या आरम्भ करते हैं।

यहाँ एक विशेष बात भरत ने कही है कि 'शब्द' का शरीर नानावृत्तों से निष्पन्न हुआ है क्योंकि न कोई शब्द छन्दों से हीन है, न कोई छन्द शब्दों से रहित है। उभय का संयोग नाटक का उद्योतक माना गया है।

छन्दों और वृत्तों की भरत ने विस्तार से चर्चा की है क्योंकि नाटकों में इनका प्रयोग होता है। (नाट्येऽस्मिन प्रयोज्यानि निबोधत)।

पन्द्रहवें अध्याय में नाटक में प्रयोग करने योग्य वृत्तों से परिचय से कराया गया है।

सोलहवें अध्याय का आरम्भ काव्य के ३६ लक्षणों की चर्चा से हुआ है, उसके बाद काव्य के अलंकार हैं, गुण एवं दोष, रस के अधीन प्रयोग की बात बतायी गयी है।

भरत कहते हैं कि नाटकों में भावों के अनुसार तथा रसों के आश्रय पर सभी तरह की काव्य रचनाओं के ह्रस्व दीर्घ एवं प्लुत अक्षरों का प्रयोग करना चाहिये। वे आगे कहते हैं कि विकृत प्रयोगों वाले पदों से युक्त अभिनय ललित नहीं मालूम होते। वही नाटक दर्शकों को अच्छा लगता है जिसमें कोमल एवं ललित पदार्थ हों, जो शब्द के गूढ़ अर्थों से हीन हो, बहुजन को सुख देने वाला हो।

आगे कहा है कि ३६ लक्षणों का काव्य प्रवन्ध में निर्देश करना चाहिये यथा भूषण, शोभा, विचार, अनुनय, सशंय, दृष्टान्त, मनोरथ, संक्षोभ, गुणकीर्तन, प्रिय वचन आदि, क्योंकि ये प्रवन्ध की शोभा के विधायक हैं।

प्रश्न यह है कि काव्य-छन्द-वृत्त की इतने विस्तार से चर्चा क्यों की गयी है? उत्तर बहुत ही आसान है। नाटक स्वयं काव्य है अतः नाटक लिखने और खेलने के लिये विस्तार से 'काव्य' को जानना ही चाहिये। प्राचीन नाटक 'काव्य' में ही लिखे जाते थे। आधुनिक एलोक्यूशन-शास्त्रों में भी 'रेसिटेशन' और 'वर्स' की, 'राईम तथा मीटर' की विस्तृत चर्चा मिलेगी और 'पोइट्री' पढ़ने के लिये इनका ज्ञान आवश्यक है। काव्य-पाठ में किन अक्षरों या शब्दों पर बलाघात हो, कहाँ विराम हो यह जानना आवश्यक है। नाटक में काव्य पाठ की तो विशेष कला है क्योंकि अभिनेता को उस पद्यांश का रस, भाव, तथा अर्थ तो संप्रेषित करना ही है, साथ ही ताल-लय-स्वर का भी ध्यान रखना है। अंग्रेजी में भी लिरिक, नैरेटिव वर्स, ड्रामाटिक वर्स पढ़ने के निर्देश प्राप्त होते हैं। हिन्दी नाटक में अभिनेय ढंग से काव्य पाठ अभी शैशव अवस्था में है और इस हेतु भरत के इन अध्यायों का सूक्ष्म अध्ययन मार्ग दर्शक होगा।

भरत के नाट्य शास्त्र का सत्रहवाँ अध्याय आधुनिक नाटककार और अभिनेता के लिये बहुत ही रोचक और ज्ञानवर्धक है (आधुनिक हिन्दी नाटक में पात्रानुसार उच्चारण, भाषा, सम्बोधन आदि पर अभी अपेक्षित बल नहीं दिया जाता!) भरत ने जिन देशी भाषाओं की चर्चा की है या जिन सम्बोधनों का उल्लेख किया है वे आधुनिक नाटक के लिये भले ही उपयोगी न हों पर वे मार्गदर्शन तो करते ही हैं।

सत्रहवाँ अध्याय प्राकृत पाठ्य के लक्षण से आरम्भ होता है। प्राकृत तीन प्रकार के शब्दों वाली है—तत्सम (संस्कृत जैसे), तद्भव (संस्कृत से विभ्रष्ट होकर बने), तथा देशी। प्राकृत में ऐ, औ, अः, श, ष, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ङ, और ण ये बारह वर्ण नहीं होते। क ग, त, द, य और व 'लोप' हो जातें हैं। ख, घ, थ, ध और म 'हत्व' प्राप्त करते हैं। चार पाँच शब्दों को छोड़कर कहीं भी ऊपर या नीचे रेफ नहीं होता, 'र' का लोप हो जाता है। ख घ द ध फ और भ 'ह' बन जाते हैं। और क ग त प य एवं 'व' में नित्य ही द्वितीय स्वर स्थित है। 'ष'—छ बन जाता है श और ष, 'स' कहे जाते हैं, ट अनेक स्थानों पर 'ड' पढ़ा जाता है। 'र' लकार बन जाता है। ड़ को 'ल' पढ़ते हैं।

(उदाहरण मेघ-मेह, बधु-बहू, मुख-मुह, विष-विस, शंका-संका, उदर-उदल, तड़ाग-तलाओ।) घ का ढ, न का ण, प का व, घ का ह, य का ज, प का फ, (मृत-मओ, मृग-मओ, औ का ओ (औषधि-ओसध) च का य़ (प्रचल-प्रयल)।

श्च, प्स, थ्य, और त्स 'छ' (पश्चिम-पच्छिमो, लिप्सा-लिच्छा, उत्साह-उच्छाह, वत्स-बच्छ ।)

ष्टः, ष्ठः, स्तः, स्थः, ष्मो, म्ह, ष्ण, ष्ण, ह्ह, क्षः—'ख' हो जाते हैं। (दृष्ट-दट्ठ, हस्त-हत्थ, ग्रीष्म-गिम्ह, यक्ष-जक्ख, पर्य्यंक-पल्लंकु-पलंग, वृहस्पति-बीफे बन जाते हैं ।)

नाटक में इनको शुद्ध नहीं करना चाहिये । और संस्कृत-प्राकृत के भेद समझना चाहिये । आगे देशी भाषाओं के विकल्प बताते हैं—ये चार हैं । अति भाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा' और योन्यन्तरी भाषाएं ।

अतिभाषा-देवताओं की, आर्यभाषा-राजओं की (संस्कार सम्पन्न पाठ), जाति भाषा विविध प्रकार की बोलियां हैं और योन्यन्तरी में विदेशी भाषाएं तथा ग्रामीणों, जंगलियों, पशु-पक्षियों की भाषाएं आती हैं ।

किस पात्र को कौन-सी भाषा बोलनी चाहिये : इसका विस्तृत विवरण है, जैसे धीरोदात्त नायक संस्कृत, दरिद्र अपढ़ संस्कृत नहीं, बौद्धभिक्षु-प्राकृत, दण्डी सन्यासी-संस्कृत, रानी-गणिका, कलाविदग्ध-संस्कृत, शुद्ध जातियां-शौरसेनी समाश्रित भाषा वोलें अर्थात अभिप्राय के अनुसार देश भाषा का प्रयोग करे ।

मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी वाह्लिका, तथा दक्षिणात्या ये सात भाषाएं हैं । इनके अलावा शकार, आभीर, चण्डाल, शबर, द्रमिल, आन्ध्र एवं वनचरों की भाषाएं है जिन्हें हीन-भाषा कहा गया है ।

कौन-सा पात्र, कौन सी भाषा बोले यह बताया है । गंगा और सागर के बीच के देशों में "एकार" बहुल भाषा, विंध्य और सागर के बीच के देशों में 'नकार' बहुल भाषा, सौराष्ट्र, उज्जयनी आदि में 'च कार' बहुल भाषा, साहित्यवान सिन्धु एवं सौवीर में 'उकार" बहुल भाषा, चर्मण्वती नदी तट और अबुर्दाली पहाड़ों में 'ओ कार' बहुल भाषा का प्रयोग करना चाहिये ।

तदुपरान्त वाक्य-विधान में सम्बोधन की बातें बतलाते हैं, कौन किससे कैसे बात करे । साथ ही किस पात्र का नाम किस प्रकार का हो अर्थात् ऐसा नहीं कि नायक का नाम चमरू दास और नौकर का पुष्पदंत हो । नाम की योजना का विधान है जिसका पालन करना चाहिये ।

इसके बाद भरत मुनि पाठ्य के गुण बताते हैं । इनमें सात-स्वर, तीन स्थान, चार वर्ण, दो प्रकार के काकु, छः अलंकार और छः अङ्ग होते हैं ।

१. सप्त-स्वर—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। स्वर और रस—हास्य तथा शृङ्गार में म, प, भयानक तथा वीभत्स में 'ध' और अन्य रसों में ग, नी का प्रयोग करे।

मन्द्र स्वर से पाठ आरम्भ करके तारस्वर पर जायं और फिर मन्द्र पर समाप्त करें।

२ तीन स्थान—उर, कण्ठ, सिर, वे शरीर को वीणा बताते हैं और कहते है कि तीनों ही स्थानों से काकु स्वर प्रवृत होता है—यथा-दूर-स्थित व्यक्ति को बुलाना हो या बात करनी हो तो सिर हिलाना चाहिये, थोड़ी दूरी हो तो कण्ठ और निकट हो तो उरस्थल से संकेत करना चाहिये।

३. चार वर्ण (एक्सेंट)—उदात्त (एक्यूट), अनुदात्त, (ग्रेव), स्वरित (सर्कमफ्लेक्स) तथा कम्पित (क्विवरिंग) शृङ्गार हास्य में स्वरित और उदात्त पाठ, वीर, रौद्र और अद्भुत में उदात्त और कम्पित, करुण, वीभत्स, भयानक में अनुदात्त, स्वरित और कंपितवर्णों से पाठ करना चाहिये।

४. दो काकु (इनटोनेशन)—साकांक्ष और निराकांक्ष दो प्रकार के काकु हैं। साकांक्ष में वाक्य में पूर्ण अभिव्यंजना नहीं होती और निराकांक्ष में पूर्ण भाव व्यक्त हो जाता है। साकांक्ष कंठ तथा उर से दीप्त स्वर में आरम्भ हो मन्द्र में शेष होता है, इसके वर्ण अलङ्कार स्पष्ट नहीं होते। निराकांक्ष शिर से मन्द्र स्वर में आरम्भ होता है, दीप्त में पूर्ण होता है। इसके वर्ण अलङ्कार पूर्ण होते हैं।

५. छः अलंकार—पाठ के षट् अलङ्कार है—उच्च, दीप्त, मन्द्र, नीच, द्रुत एवम् विलम्बित।

i. उच्च—(हाई) माने शिर स्थानगत तार स्वर—उपयोग—दूर से बात करने में, विस्मय, उत्तर-प्रत्युत्तर, डराने-धमकाने, बाधा, पीड़ा आदि में।

ii. दीप्त—(एक्साइटेड) शिर-स्थानगत अत्यन्त तार स्वर—
उपयोग-आक्षेप, कलह, विवाद, रोष, आक्रोश क्रोध, शौर्य, दर्प, रुक्ष तथा तीक्ष्ण कथन, डाँट-डपट और आक्रन्द में।

iii. मन्द्र—(ग्रेव)—उरस्थान गत मध्य स्वर—उपयोग, निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता उत्सुकता, दैन्य, व्याधि, क्रीड़ा, मूर्च्छा, मद, गुह्य अर्थ कहने में।

iv. नीच—(लो) उरस्थानस्थ मन्द्रतर स्वर—उपयोग, स्वाभाविक भाषण, व्याधि, श्रांति, श्रम, आर्त्त, त्रस्त, पतित, मूर्छित आदि में।

v. द्रुत—(फास्ट) कण्ठगत त्वरित स्वर—उपयोग—बच्चों को खिलाने में, मान मनौअलमें, भय, शीतज्वर, त्रास, आवेदन आदि में।

vi. विलम्बित (स्लो)—कण्ठगत तनुमन्द्र स्वर—उपयोग—शृङ्गार, करुण, वितर्कित, विचार, अमर्ष, असूया अव्यक्त अर्थ के प्रवाद, लज्जा, चिन्ता, तर्जन, विस्मय, दोषों के कीर्तन, दीर्घ रोग की अवस्था और निपीड़न में होता है।

कथोपकथन, आक्षेप, तीक्ष्ण और रुखे विषय, आवेग, क्रन्दन, परोक्ष व्यक्ति को बुलाने, तर्जन, त्रासन, डाँट-डपट आदि में उच्च—दीप्त एवं द्रुत काकु का प्रयोग और व्याधित, ज्वरार्त, भयार्त शीत विलुप्त, नियमस्थ वितर्क, आहत गोपन वार्ता, चिन्ता आदि में मन्द्र एवं नीच काकु का तथा बालविनोद, सांत्वना, भय, शीत की अवस्था में मन्द्रद्रुत का प्रयोग करने का निर्देश है।

अच्छी-बुरी खबर सुनने में, चिन्तामग्नता, उन्माद उपालम्भ, क्रोध, दुख, शोक, विस्मय आदि में विलम्बित-दीप्त एवं मन्द्र काकु का और जहां लघु अक्षर या दीर्घ अक्षर युक्त सम्वाद है वहां उच्च दीप्त काकु का और प्रसन्न करने वाली वस्तु से उत्पन्न सुख-भाव प्रगट करने में मन्द्र विलम्बित काकु का प्रयोग करने की सलाह दी गयी हैं।

शृगार, हास्य एवं करुण में विलम्बित काकु, भयानक, वीभत्स में द्रुत एवं नीच, वीर, रौद्र अद्भुत में दीप्त काकु प्रशंसनीय हैं।

६ छ अंग—आगे 'अंग' की व्याख्या की गई है। अङ्ग छ हैं—विच्छेद, अर्पण, विसर्ग, अनुबन्धन, दीपन एवं प्रशमन। विच्छेद-विराम के लिए, लीलायमान, मधुर एवं वल्गु स्वर से रङ्गस्थल को भरना अर्पण है; विसर्ग का अर्थ है वाक्य का न्यास, पदान्तर में विच्छेद अथवा उच्छ्वसन ही अनुबन्ध है, तीन स्थानों में शोभायमान, वर्धमान स्वर दीपन है, तार-स्वर को बिना—विस्वर किये उतार लेना प्रशमन है।

हास्य-शृङ्गार में अर्पण-विच्छेद, दीपन एवं प्रशमन युक्त, करुण में दीपन तथा प्रशमन युक्त, वीर-रौद्र तथा अद्भुत में विच्छेद-प्रशमन, दीपन एवं अनुबन्ध युक्त और वीभत्स एवं भयानक में विसर्ग एवं विच्छेदयुक्त पाठ बताया गया है।

दूरस्थ से बात करने में शिर से तार-स्वर में, थोड़े दूर में कण्ठ से मध्यस्वर में और पास के व्यक्ति से उरस्थल से मंद्र स्वर में वार्ता होती है। मंन्द्र से तार या तार से मंन्द्र में नहीं जाना चाहिये।

लय :—द्रुत मध्य, विलंबित तीन प्रकार की लय है—हास्य शृङ्गार में मध्यलय, करुण में विलम्बित, वीर रौद्र, अद्भुत, वीभत्स और भयानक में द्रुत-लय का उपयोग होता है।

विराम की बाबत बताते हैं कि अर्थ की समाप्ति में किया जाने वाला विराम कार्य के अनुसार होता है, अपने अभिप्राय के अनुसार नहीं।

विराम (पॉज) चूंकि अर्थ दर्शक हैं और अभिनय में अर्थ की ही अपेक्षा है अतः विराम के माध्यम से वाचिक-अभिनय करना चाहिये। जब हाथ व्यस्त होते हैं जैसा वीर रौद्र में शस्त्र सम्भालने में, हास्य, करुण या अद्‌भुत आश्चर्य आदि में हाथ उठाने पड़ते हैं, तब विराम ही सही अर्थ-बोध कराते हैं।

पद के अन्त में या साँस के आधार पर विराम करना चाहिये, नहीं तो अर्थ के अनुसार विराम करें।

विराम—कितने समय का हो ? एक, दो तीन या चार अक्षरों पर विराम हो सकता है ! जैसे—किं ! (क्या है ?) गच्छ (जाओ) !

कृष्य-अक्षर का अर्थ है कि जो व्यंजन आकार, एकार, ऐकार औ के संयोग से दीर्घ हो जाते हैं। कृषमाने विलम्बित होता है।

विलम्बित काकु में विराम के लिए सदा कृष या गुरु अक्षर होना चाहिए। विलम्बित काकु में एक के छः कलाएं हो सकती हैं।

रस एवं भाव की समीक्षा करके वृत्त में विराम करना चाहिए।

भरत मुनि का निर्देश है कि नाट्‌य-विद्‌ को अपशब्द नहीं बोलने चाहिये, वृत्त को नहीं तोड़ना चाहिये, जहाँ विराम नहीं है वहां रुकना नहीं चाहिये और दैन्य भाव में काकु को उद्दीप्त नहीं करना चाहिये।

पच्चीसवें अध्याय में विभिन्न प्रकार के चित्राभिनय आदि के अन्तर्गत चार प्रकार के वचन और उनकी अभिनय विधि बतायी गयी है। ये है :

१. आकाश वचन (या आकाश भासित) : जिस व्यक्ति से बात की जा रही है वह मंच पर न हो। सम्वाद में उत्तर प्रत्युत्तर होते हैं।
२. आत्मगत (स्वगत) मन की बात जोर से कही जाती है।
३. आपवारितकम—गोपन बातचीत, केवल वही व्यक्ति सुने जिससे कहा जा रहा है बाकी लोग न सुने।
४. जनान्तिकम्—सब लोग सुने सिवा उस व्यक्ति के जिसे नहीं सुनाना है।

इस प्रकार भरत मुनि ने नाट्‌यशास्त्र में 'वांचिक-अभिनय' को नियमित किया है। ००

दशरूपक

वर्गीकरण और विश्लेषण

□ श्री विमल लाठ

संस्कृत साहित्य में तीन शब्द-नृत्त, नृत्य और नाट्य—बहुत बार प्रयोग में आये हैं। इनकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों के अपने-अपने मत हैं। कुछ विद्वान मूल धातु 'नृत्' को मानते हैं और अन्य 'नट्' को। "कालान्तर में 'नृत्' धातु का प्रयोग गात्र-विक्षेपण के अर्थ में होने लगा और 'नट्' का प्रयोग अभिनय के अर्थ में।"[1] दशरूपक-कार ने नृत्त, नृत्य और नाट्य का अन्तर स्पष्ट किया है। नृत्त ताललय-आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित होता है, किन्तु नाट्य रसाश्रित होता है।

"अन्यद्भावाश्रयं नृत्यं, नृत्तं ताललयाश्रयम्।
अवस्थानुकृतिर्नाट्यं, दशधैव रसाश्रयम्।"[2]

रूपक शब्द सामान्य रूप से नाट्य के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है किन्तु नाट्य और रूपक में भी उसी प्रकार का सूक्ष्म अन्तर है जैसा नाट्य और नृत्य में मिलता है। "रूप का आरोप करने के कारण नाट्य को रूपक कहते हैं।"[3] "नाट्य में अवस्थाओं की अनुकृति को महत्व दिया जाता हैं किन्तु रूपक में अवस्थाओं की अनुकृति के साथ-साथ रूप का भी आरोप होता है। (साहित्य दर्पण—"दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्")। वास्तव में अभिनय कला का पूर्ण और सफल रूप हमें रूपक में ही मिलता है। नृत्त, नृत्य और नाट्य—ये तीनों रूपक की प्रारम्भिक भूमिकाएं हैं।"[4]

नाट्यशास्त्र को भरतमुनि ने लिखा या भरतों (कलाकारों) के एक दल ने या केवल उस समय प्रचलित सूत्रों का इस रूप में संकलन ही किया, इस विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हो सकते हैं, किन्तु उनके 'दशरूपक' रूप में उनके दस भेद प्राय: सभी आचार्यों को मान्य हैं, जिनमें प्रमुख टीकाकार आचार्य धनन्जय एवं धनिक भी शामिल हैं। नाट्यशास्त्र के रचना-काल के सम्बन्ध में भी मतभेद हैं, किन्तु अधिक मान्यता

1. "नाट्य समीक्षा" : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० ७
2. "दशरूपक" प्रथम प्रकाश : ९/७
3. "हिन्दी दशरूपक" पृ० ५
4. "सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ" : डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पृ० २३

इसी विचार को मिलती है कि वह ईसापूर्व दूसरी से पांचवी शती के बीच प्रणीत हुआ। जो भी हो, दो हजार या इससे अधिक वर्षों पूर्व रचित नाट्यशास्त्र के काल तक इतना तो अवश्य ही हो चुका था कि "लेखक को बड़ी संख्या में रूपक प्राप्त थे कि वह उनका वर्गीकरण कर सके। इनके प्रकारों को यदि हम देखें तो नाट्यशास्त्र के काल तक भारतीय नाट्य साहित्य के क्रमिक विकास की जानकारी हमें मिल सकती है।"[1]

भरतमुनि ने रूपक के दस भेद किये हैं—नाटक, प्रकरण, अंक (उत्सृष्टिकांक), व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम एवम् ईहामृग।

नाटकं सप्रकरणमङ्को व्यायोग एव च।
भाणः समवकारश्च वीथी प्रहसनं डिमः॥
ईहामृगश्च विज्ञेया दशेमे नाट्यलक्षणे
एतेषां लक्षणमहं व्याख्यास्याम्यनुपूर्वशः॥

ना० शा० १८/२-३ [2]

रूपकों की व्याख्या प्रस्तुत करने के पूर्व भरतमुनि वृत्तियों का उल्लेख करते हैं और उन्हें किसी भी नाट्यकृति का मूलाधार मानते हैं और इन्हीं से प्रयोग के रूप में दशरूपक की उत्पत्ति मानते हैं। अतः किस रूपक में कौन-सी वृत्ति प्रमुख है और कौन-सी अविद्यमान है, यह रूपक के वर्गीकरण का एक मूल अंग उन्होंने माना है। वृत्ति के साथ-साथ रूपक की कथावस्तु, आगे बढ़ाने वाली सन्धियाँ (एवं उनके ६४ भेद संध्यंग भी), नायकों का चरित एवं उनकी संख्या, अंकों की संख्या आदि भी इस वर्गीकरण के लिये आवश्यक अंग हैं।

नाटक

साधारण अर्थों में आजकल नाटक किसी भी नाट्यकृति को कह लेते हैं, किन्तु भरत का 'नाटक' कई विशेष बातों के कारण ही नाटक बनता है। नाटक में ५ से १० अंकों का समावेश होना चाहिए। कथावस्तु कोई प्रख्यात और लोकप्रिय आख्यान हो। इसका नायक प्रख्यात एवं उदात्त हो, राजर्षियों के वंश के अनुकूल जिसका आचरण हो, दिव्य देवताओं के आश्रय से जो उपेत हो, जिसमें दैवीय शक्ति हो (पर जो स्वयं देवता न हो)। इस रूपक में युद्ध में विजय, विलास आदि का वर्णन, राजाओं के सुख-दुखों को विभिन्न रसों एवं भावों द्वारा चित्रित करना चाहिए। नाटक में नायक के ४ या ५ से अधिक सेवक नहीं दिखलाने चाहिए।

---

1. "स्टडीज इन द नाट्यशास्त्र" डॉ० जी० एच० तारलेकर, पृ० १६
2 उद्धरण—साहित्याचार्य मधुसूदनशास्त्री कृत नाट्यशास्त्रम् टीका से

इस प्रकार के चरित्र और इस प्रकार की कथावस्तु का प्राचुयता में पाया जाना सहज नहीं है। "ऐसी (कथावस्तु) केवल पुराण, इतिहास (रामायण और महाभारत) या इसी तरह के किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ (जैसे वृहत्कथा) में ही मिल सकती है।"1 "काव्य के सर्वगुण सम्पन्न खेल को नाटक कहते हैं। इसका नायक कोई महाराज (जैसे दुष्यन्त) या ईश्वरांश (जैसे श्रीराम) या प्रत्यक्ष परमेश्वर (जैसे श्रीकृष्ण) होना चाहिए। रस शृंगार एवं वीर। अंक पांच के ऊपर और दस के भीतर। आख्यान मनोहर और अत्यन्त उज्जवल होना चाहिए।"2

नाटक को विभिन्न अंकों में बांटते हुए भरतमुनि ने निदेश दिया है कि प्रत्येक अंक में एक दिन में घटित होनेवाली घटना का ही वर्णन किया जाये जो 'बीज' से सम्बन्धित हो और 'विन्दु' तक परिवर्तित परिस्थिति को ले जाये, बहुत-सी घटनाएं न हों, एक से अधिक रस हों जो नायक, नायिका, उनके गुरुजन, अमात्य एवं सार्थवाह आदि के कार्यव्यापार एवं वाणी द्वारा सम्पादित हों। युद्ध, राज्य का तिरोधान, मृत्यु, नगर का घेरा आदि अंक में न दिखलाये जायें, ऐसा निषेध भी है। इन कार्यव्यापारों के लिये 'प्रवेशक' दृश्यों का सहारा लिया जाये (सूचना रूप में)। 'प्रवेशक' में भी नायक की मृत्यु की की सूचना वर्जित है। 'विष्कंभक' (सहायक दृश्य) का भी सहारा लिया जा सकता है, जिसमें केवल मध्यम चरित्र ही उपस्थित हों, नायक आदि उत्तम चरित्र न हों। संस्कृत साहित्य में कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक का प्रसिद्ध उदाहरण है।

प्रकरण

इस रुपक में नाट्यकार की अपनी कल्पनाशक्ति का परीक्षण होता है। यहां नायक और कथावस्तु दोनों ही उत्पाद्य (कल्पित) होते हैं—

> "यत्र कविरात्मशक्त्या वस्तु शरीरं च नायकं चैव।
> औत्पत्तिकं प्रकुरुते प्रकरणमिति तद् बुधैर्ज्ञेयम्॥" ना० श० १८/४५

यह रूपक नाटक की तरह ही रसाश्रित और पंचसन्धि-समन्वित होता है, अंक भी इसमें ५ से १० होते हैं। ब्राह्मण, वणिक, अमात्य, पुरोहित, सार्थवाह इसमें पात्र होते हैं। नायक उदात्त पुरुष नहीं होता और न ही दिव्य। दास, विट्, श्रेष्ठी, वेश्या और हीन कुल-वधू के भी चरित्र-चित्रण होते हैं। पर यह निषेध अवश्य है कि इस प्रकार के हीन चरित्र वाले महिला पात्र उपर्युक्त प्रकार के पात्रों की उपस्थिति में रङ्ग पर न लाये जायें, किसी सम्मानीय कुलवधू को भी इन निम्न

1. "द नाट्यशास्त्र" : डॉ० एम० एम० घोष, पृ० ३५४
2. "भारतेन्दु नाटकावली" भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृ० ४२१-४२२

चरित्र वाली महिलाओं की उपस्थिति में न लाया जाये, पर यदि परिस्थितिवश एक साथ दिखलाना अनिवार्य ही हो, तो संवादों की भाषा और उनका व्यवहार अति संयत होना चाहिए।

धनंजय के 'दशरूपक' के अनुसार नायक का धीर प्रशान्त होना आवश्यक है। नायिका कुलीन स्त्री अथवा गणिका होती है, कभी-कभी दोनों भी। पुरुष पात्रों में धूर्त भी होते हैं। श्री रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' में नायक को धीर प्रशान्त के साथ-साथ धीरोदात्त भी माना है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ शृङ्गार रस पर बल देते हैं। प्रकरण के विभिन्न उदाहरणों में मृच्छकटिक, पूष्पदूतिका, मालतीमाधव एवं मल्लिकामारुत को माना गया है।

डॉ० दशरथ ओझा का कथन है कि 'संस्कृत में रूपक दो प्रकार से विकसित हुए। एक प्रकार तो मानव विकास की पूणता को आदर्श मानकर चला, दूसरा समाज के यथार्थ रूप को दर्पण के समान प्रतिबिम्बित करता हुआ विकसित हुआ। जिसमें मानवता का उदात्त रूप सम्मुख आया वह नाटक हुआ, और जिसमें समाज का वास्तविक रूप झलकने लगा वह प्रकरण कहलाया।"[1]

नाटिका (नाटी)

नाटक एवं प्रकरण के संयोग से एक दूसरे प्रकार के नाट्य-स्वरूप का उद्भव हुआ जिसे भरतमुनि ने नाम दिया नाटिका या नाटी। नाटक और प्रकरण का यह मिश्रित रूप कहा जा सकता है। इसी अर्थ में नाट्यशास्त्र में इसे एक पृथक रूपक का स्थान नहीं मिला है, यद्यपि यह रूपक अन्य परवर्ती आठ रूपकों से कई अर्थों में श्रेष्ठ है। इसका नायक राजा होता है, कथावस्तु कल्पित है, अभिनय ललित एवं सुन्दर होता है। चार अंकों में बहुतायत से नृत्यगीत एवं पाठ्य होते हैं। क्रोध करना, रूठना, मान-मनौवल का क्रम होता है, रति क्रीड़ा का विषय भी होता है। पात्रों में नायक (राजा) की पहली रानियाँ (पटरानी सहित) भी होती हैं और नायिका अन्तःपुर में संगीत कार्य में तल्लीन कोई कोमलांगी होती है।

"नाटिका की कला कल्पित होती अवश्य है, पर बहुत कुछ उसकी कथावस्तु मिश्रित होती है। कोई लड़की, जिससे विवाह होने पर राजा का कल्याण होनेवाला होता है, किसी संयोग से अन्तःपुर में पहुँचाई जाती है। राजा की दृष्टि उस पर पड़ती है। अनुराग बढ़ता है। रानी सशंक होकर सावधान होती है, फिर अनुकूल होती है। प्रायः बाद में पता चलता है कि लड़की रानी की दूर-रिश्ते की कोई बहन है। यही

---

1. 'नाट्य-समीक्षा : डा० दशरथ ओझा, पृ० ११

नाटिकाओं की सामान्य कथावस्तु है। प्रधान उद्देश्य कथा की जटिल प्रक्रिया नहीं, रसोद्रेक है।"[1]

प्रसंगवश उल्लेख करना आवश्यक है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी रूपकों के वर्गीकरण में रस को सबसे प्रमुख स्थान देते हैं—"अरस्तू ने प्लाट या कलावस्तु को तर्जदी नाटकों की आत्मा कहा था (पोएटिक्स १४५० अ० ३८)। परन्तु भारतीय परम्परा कथावस्तु को गौण और रस को मुख्य मानती है।"[2]

समवकार

इस रूपक का नाम समवकार सम्भवतः इसलिये है कि इसमें कई नायक होते हैं और उनके उद्देश्य अथवा प्रयोजन समवकीर्ण अर्थात् संगृहीत हो गये होते हैं। देवताओं और असुरों की घटनाओं का प्रख्यात कथानक होता है तथा १२ प्रख्यात एवं उदात्त नायक होते हैं। तीन अंक, तीन कपट, तीन विद्रव और तीन शृङ्गार की योजना होती है। तीन कपट हैं—वस्तुस्वभावकृत, दैवप्रकोप अथवा युद्धकृत एवं सुखदुखकृत। तीन शृङ्गार हैं—धर्मशृंगार; अर्थशृंगार एवं कामशृंगार। एक अंक में एक शृंगार का प्रयोजन आवश्यक माना गया है। तीन विद्रव हैं—दुश्मन द्वारा नगर के घेरे से उत्पन्न, युद्ध एवं जल विभीषिका के कारण एवं वाताग्नि तथा हाथियों के सम्भ्रम से उत्पन्न। इस रूपक का समय १८ नाड़ी निश्चित किया गया है (१ नाड़ी=आधा मुहूर्त=२४ मिनट)। पहले अंक की अवधि १२ नाड़ी, दूसरे की ४ ओर तीसरे की २ नाड़ी निश्चित की गयी है। भरतमुनि दर्शकों की ओर से पूरे सावधान दिखायी पड़ते हैं क्योंकि उनका स्पष्ट निर्देश है कि तीनों अंक भिन्न-भिन्न अर्थवाले हों, क्योंकि दर्शकमण्डली पुनरावृत्ति पसन्द नहीं करती। उष्णिक एवं गायत्री के अलावा जो बन्धकुटिल विषम या अर्धसम वृत्त हैं, नाट्यकार (कवि) को उनका प्रयोग समवकार में करना चाहिए। इस रूपक का उदाहरण 'समुद्रमन्थन' बतलाया गया है।

ईहामृग

इस रूपक में नायक अथवा प्रतिनायक मृग के समान अलभ्य कामिनी को प्राप्त करने की कामना रखता है, इसीलिये सम्भवतः नाम ईहामृग हुआ। नायक दिव्य पुरुष होता है जो दिव्य नायिका को प्राप्त करने की चेष्टा में रत रहता है। इतिवृत्त का तानाबाना अच्छी कसावट वाला और विश्वसनीय होता है, कभी प्रसिद्ध और कभी कल्पित भी। दिव्य नायक उद्धत होता है। स्त्रियोचित क्रोध के कारण संक्षोभ

---

1. 'नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक' : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५३
2. वही, पृ० ५३

(आवेग), विद्रव (भागदौड़) एवं संफेट (आपसी कलह) का सृजन होता है, नारी अपहरण और शत्रु का अवमर्दन होता है। अत्यन्त आवेश में युद्ध का प्रसंग आ पड़ने पर भी किसी न किसी बहाने युद्ध टल जाता है। इन प्रसंगों के कारण कैशिकी वृत्ति अनुपथित रहती है, बाकी तीनों उपस्थित। रौद्र रस प्रमुख होता है, शृङ्गार भी कुछ मात्रा में। युद्ध टल जाने के प्रसंगवश भयानक और वीभत्स रस नहीं होते।

डॉ० मनमोहन घोष के अनुसार इस रूपक का कोई बहुत प्राचीन उदाहरण प्राप्त नहीं है। अंकों और नायकों की संख्या के विषय में भी मतभेद हैं। अभिनव गुप्त १ अंक और बारह नायक मानते हैं। अधिकतर विद्वानों का मत ४ अंकों के पक्ष में है।

डिम

इस रूपक का इतिवृत्त प्रख्यात है। नायक भी प्रख्यात होता है। रसों में शृङ्गार एवं हास्य के अतिरिक्त बाकी सभी रसों का समावेश रहता है। प्रदीप्त रस एवं भाव से पूर्ण इस कथानक में भूकम्प, झंझावात, सूर्य एवं चन्द्रग्रहण, युद्ध और संफेट (आपसी कलह) आदि इसमें पिरोये गये होते हैं। कपट एवं छल का भी प्राचुर्य होता है। १६ उद्धत पात्र होते हैं जिनमें देवता, असुर, राक्षस, भूत, यक्ष, नाग आदि समाविष्ट हैं। वृत्तियों में सात्वती तथा आरभटी, रसों में रौद्र रस प्रमुख हैं। इसमें ४ अंक माने गये हैं। डिम का उदाहरण 'त्रिपुरदाह' प्रसिद्ध है।

व्यायोग

इस रूपक की कथावस्तु प्रसिद्ध कथा होती है, नायक प्रख्यात राजर्षि होता है, दिव्यपुरुष नहीं होता। इसमें स्त्री पात्र बहुत अल्प होते हैं। केवल एक दिन की घटनाओं का वर्णन इसमें होता है, एक ही अंक होता है, युद्ध, नियुद्ध, आघर्षण एवं संघर्ष होते हैं। प्रदीप्त रस होते हैं। गर्भ और विमर्श सन्धियां नहीं होती। संग्राम स्त्री के लिये नहीं होता। पुरुष पात्र बहुत होते हैं पर कथानक समवकार की भांति लम्बा नहीं होता। नायक धीरोद्धत होता है, अतः कैशिकी वृत्ति यहां नहीं होती।

व्यायोग शब्द का अर्थ है बहुत व्यक्तियों सहित। इसीलिये इस रूपक का नाम संभवतः व्यायोग है। व्यायोग का सुन्दर उदाहरण भास का 'मध्यम व्यायोग' है

अंक (उत्सृष्टिकांक)

नाटक के अंक के साथ इस रूपक का नाम भ्रम पैदा न करे, अतः भरतमुनि ने इस रूपक का नाम अंक के साथ-साथ 'उत्सृष्टिकांक' कहा। इसका इतिवृत्त प्रख्यात होता है, कभी-कभी अप्रख्यात भी हो सकता है। पुरुष पात्र दिव्य नहीं होते हैं। युद्ध या भयानक संघर्ष के बाद स्त्री-पात्रों का विलाप होता है। व्याकुल चेष्टाएं

होती हैं, करुण रस का प्राधान्य होता है, सात्वती, आरभटी और कैशिकी वृत्तियाँ नहीं होती। पात्र के अपकर्ष का कथानक होता है।

भरतमुनि का निर्देश है कि दिव्यनायकोंवाले दृश्यकाव्यों, जिनमें युद्ध, बन्ध और (शत्रु का) वध दिखलाया जाना हो, भारतवर्ष में ही रचा जाना चाहिए, क्योंकि भारत की भूमि ही इनके योग्य हैं जहाँ सतत् कर्म है और यह भूमि हृद्य है, शुभगन्धा है और स्वर्णिम है। किन्तु अन्य आमोद-प्रमोद विषयक दृश्य अन्य भूमियों पर ही रखने चाहिए, जहाँ केवल भोग है, कर्मजनित सुखदुख नहीं हैं।

उत्सृष्टिकांक के अन्तर्गत अंकों को लेकर विद्वानों में मतभेद है। शारदातनय का कथन है कि 'भरतमुनि इस रूपक में एक ही अंक, कोहल दो अंक; तथा व्यासांजन आदि तीन अंक मानते हैं।'[1] इस रूपक का उदाहरण भास का 'उरुभंग' है।

प्रहसन

प्रहसन को दो प्रकार का कहा गया है—शुद्ध और संकीर्ण (मिश्रित)। शुद्ध प्रहसन में भागवत (शैव गुरु), तपस्वी, भिक्षु, श्रोत्रिय ब्राह्मण आदि इसी श्रेणी के पात्र और निम्न जाति के लोग परिहास करते हैं। डॉ० घोष 'मत्तविलास', 'धूर्त-नर्तक' और 'हास्य चूड़ामणि' को इस श्रेणी का प्रहसन मानते हैं। संकीर्ण प्रहसन में वेश्या, दास, चेट, विट, धूर्त, नपुंसक आदि अपने भद्दे वेश और उपहासात्मक व्यवहारों से परिहास उत्पन्न करते हैं। धूर्त या विट द्वारा किसी प्रचलित कथा या घटना का प्रदर्शन होता है। उपयुक्त वीथी के प्रयोग का भी निर्देश भरतमुनि देते हैं। प्रहसन में एक अंक होता है। शारदातनय ने 'सागरकौमुदी' को शुद्ध प्रहसन, 'सैरन्ध्रिका' को संकीर्ण प्रहसन माना है।

भाण

भाण रूपक में एक ही पात्र होता है। इस रूपक के दो प्रकार बताये गये हैं— १. आत्मानुभूत शंसी (अपने ही साथ बीती घटनाओं और अनुभवों का प्रकाश), २. परसंश्रयवर्णन (दूसरों के अनुभवों की सुनी बातों का वर्णन)। यहां पात्र किसी काल्पनिक पात्र (आकाशभाषित) से बात करता हुआ अपनी बातें उपयुक्त अंग संचालन के साथ कहता चलता है। इस रूपक का पात्र धूर्त या विट होता है। एक ही अंक में यह समाप्त हो जाता है। इसमें भारती वृत्ति, मुख या निर्वहण सन्धियों में से एक सन्धि, एवं कल्पित वस्तु होती है। धनन्जय एवं साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी इसमें लास्य के दस अंगों का समावेश मानते हैं। रस के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। आचार्य रामचन्द्र इसमें श्रृङ्गार रस को प्रधान मानते हैं, वीर और

---

1. 'नाट्य समीक्षा' : डॉ० दशरथ ओझा, पृ० १३

दशरूपक : वर्गीकरण और विश्लेषण

रूपक का नाम	अंकों की संख्या	इतिवृत्त या कथावस्तु	नायक	संधि	अवस्था	रस	वृत्ति
१ नाटक	५ से १०	प्रख्यात	प्रख्यात व उदात्त	पांच	पांच	आठ	चार
२ प्रकरण	५ से १०	कल्पित	प्रख्यात व प्रशान्त	पांच	पांच	आठ	चार
* नाटिका	४	कल्पित	प्रख्यात व ललित	पांच	पांच	शृंगार	चार
३ समवकार	३	प्रख्यात	उदात्त (१२)	मुख, प्रतिमुख, गर्भ, निर्वहण	प्रारम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, फलागम	वीर, रौद्र, (किंचित) शृंगार	कैशिकी के अलावा तीन
४ ईहामृग	४ या कम	प्रख्यात या कल्पित	उद्धत	मुख, प्रतिमुख, निर्वहण	प्रारम्भ, यत्न, फलागम	रौद्र, (किंचित) शृंगार	"
५ डिम	४	प्रख्यात	प्रख्यात व उद्धत	मुख, प्रतिमुख, गर्भ, निर्वहण	प्रारम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, फलागम	शृंगार और हास्य के अलावा सभी	"
६ व्यायोग	१	प्रख्यात	प्रख्यात व उद्धत	मुख, प्रतिमुख, निर्वहण	प्रारम्भ, यत्न, फलागम	"	"
७ अंक (उत्सृष्टिकांक)	१	प्रख्यात (अप्रख्यात भी)	उद्धत	मुख, निर्वहण	प्रारम्भ, फलागम	करुण	भारती (मुख्य)
८ प्रहसन	१	कल्पित	उद्धत	"	"	शृंगार, वीर, हास्य	"
९ भाण	१	कल्पित	उद्धत	"	"	शृंगार, वीर	"
१० वीथी	१	कल्पित	उद्धत	"	"	शृंगार (मुख्य) अन्य भी	कैशिकी, भारती, मुख्य

★ नाटिका को रूपकों की संख्या में भरतमुनि एवं धनंजय ने शामिल नहीं किया है।

५ **अवस्थाएं**—१. आरम्भ, २. प्रयत्न, ३. प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति, ५. फलागम।

५ **सन्धियां**—१. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ३. अवमर्श या विमर्श, ५. निर्वहण।

४ **वृत्तियां**—१. कैशिकी, २. आरभटी, ३. सात्त्वती, ४. भारती।

४ **नायक**—१. धीरोदात्त, २. धीरोद्धत, ३. धीरललित, ४. धीरप्रशांत।

८ **रस**—१. वीर, २. शृंगार, ३. हास्य, ४. करुण, ५. रौद्र, ६. भयानक, ७. वीभत्स, ८. अद्भुत, (शान्त रस भरत और धनंजय ने नहीं माना है)

संकलन : विमल लाठ

हास्य को गौण। शारदातनय इसमें एक मात्र शृङ्गार रस को ही मानते हैं। डॉ० घोष 'चतुर्भाणी' के अन्तर्गत प्रकाशित चार भाण रूपक—'उभयअभिसारिका', 'पद्म-प्रभृतिका', 'धूर्त-विट-संवाद' और 'पाद-ताडितक' को सबसे प्राचीन (६ठी-७वीं शती) के उदाहरण मानते हैं।[1] एक उदाहरण 'लीला मधुकर' का भी है।

वीथी

वीथी का अर्थ होता है पंक्ति। वीथी के १३ प्रकार दिये गये हैं जो पंक्तिवद्ध रूप में इस रूपक के लिये आवश्यक हैं, सम्भवतः इसका नाम वीथी इसीलिए पड़ा है। ये तेरह प्रकार हैं— उद्घात्यक, अवलगित, अवस्पन्दित, नाली, असत्प्रलाप, वाक्केली, प्रपञ्च, मृदव, अधिवल, छल, त्रिगत, व्यवहार एवम् गण्ड। वीथी में एक या दो ही पात्र होते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं—उत्तम, मध्यम एवं अधम। इस रूपक में कोई भी रस आ सकता है। १३ प्रकार के वीथ्यंग स्पष्टता से, स्वाभाविकता से और अपने रस-भाव के साथ जिस रूपक में शामिल हों, वही रूपक वीथी कहलाता है। 'मालविका' और 'बकुल वीथी' इसके उदाहरण कहे जा सकते हैं।

इन रूपकों पर विचार करने पर यह मुख्य तत्व सामने आता है कि नाटक, प्रकरण (और नाटिका भी) पूर्णांग रूपक हैं, बाकी सभी आठों रूपक रस-भाव और वृत्ति की न्यूनता के कारण कमजोर हैं। सम्पूर्ण रस का आस्वादन तो केवल इन प्रथम दो (या तीन) में ही दर्शक को प्राप्त होता है। "डिम, व्यायोग, समवकार और ईहामृग में तीन ही वृत्तियों का प्रयोग होता है इसलिये अपूर्ण हैं। भाण, प्रहसन, वीथी और उत्सृष्टिकांक में तीनों का प्रयोग तो है पर मुख्य वृत्ति भारती ही है। इस तरह ये और भी विकलाङ्ग हैं। इस प्रकार इन रूपकों में तीन (नाटक, प्रकरण, नाटिका) उत्तम श्रेणी के हैं, चार (डिम, व्यायोग, समवकार, ईहामृग) मध्यम श्रेणी के हैं और बाकी अवर श्रेणी के।"[2]

इन रूपकों के वर्गीकरण और विश्लेपण में भरतमुनि के समय के इतिहास-सन्दर्भ, तत्कालीन परिस्थितियां, जीवन-दर्शन और सामाजिक मूल्य अवश्य ही प्रभावी रहे होंगे। वर्तमान परिस्थितियों में रूपक का यह वर्गीकरण और उनका आज के रंगमंच पर प्रयोग कितना सार्थक और व्यावहारिक है, यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर खुले रूप से विचार करने की आवश्यकता है। इस खोज की और भी अधिक व्यावहारिक आवश्यकता है कि भरतमुनि द्वारा दशरूपक की इस विस्तृन व्याख्या से बदलती परिस्थितियों और जीवन-मूल्यों के बीच आज का 'थियेटर' क्या ले सकता है। ००

---

1. 'द नाट्यशास्त्र' : डॉ० एम० एम० घोष, पृ० ३७०, फुटनोट
2. नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृथ्वीनाथ द्विवेदी पृ० ४४

नाटक में निषेध

□ डॉ० इन्दुजा अवस्थी

● भारतीय परंपरा का पहला नाट्य आलोचना ग्रन्थ—भरत का नाट्यशास्त्र—पूणतया रंगव्यवहारपरक है। इसमें नाटक के सैद्धान्तिक और प्रयोग संबन्धी प्रश्नों का विवेचन मंच प्रस्तुति के लिये अनुकूलता, मंच व्यवहारों की उपयुक्तता और शायद तत्कालीन रंग प्रचलन की दृष्टि से किया गया है। अपने लम्बे प्रबन्ध में भरत ने नाटक के अनेक 'विधि-निषेधों, का भी निर्देश किया है।

संस्कृत नाट्य नियमों की दृष्टि से सबसे प्रमुख निषेध है, नाटकीय कथावस्तु का त्रासदी होना। भरत ने स्पष्ट कर दिया है कि आधिकारिक पात्र अथवा नायक नायिका का वध दिखलाना नाटक के लिये पूर्णतया निषिद्ध है। यदि अत्यन्त आवश्यक हो तो अपसरण, ग्रहण आदि दिखाया जा सकता है। (अष्टादश अध्याय ३८-४०)। स्वाभाविक है कि संस्कृत रूपक के रसमय संसार में फलागम एक अनिवार्यता है, क्योंकि नायक उत्कृष्ट चरित्र वाला होता ही है, उसे असफलता नहीं मिल सकती, और नाटक का अन्त भरत वाक्य से (सर्वेभवन्तु सुखिनः के भाव से) करना ही है। अतः भारतीय परम्परा में त्रासदी का अस्तित्व हो ही नहीं सकता था। इसी कारण उत्तर-रामचरित और कुन्दमाला के अन्त में सीता का पृथ्वी में समा जाना नहीं दिखाया जा सका, यद्यपि रामायण की कथावस्तु में सीता का भूमिष्ठ होना स्पष्टतः निर्दिष्ट है। शायद इसी से भास के पंचरात्रि के अन्त में पाण्डवों का पांच रातों में पता लग जाने पर राज्य लौटा देने की शर्त पूरी करने पर दुर्योधन महाभारत की प्रख्यात कथावस्तु के विपरीत पाण्डवों को उनका राज्य लौटा देने को तैयार हो जाता है।

प्रयोग विधान संबन्धी चर्चा में अस्त्र-प्रयोग और अस्त्र-धारण के संबन्ध में निश्चित विधि निषेधों का उल्लेख है। कहा गया है कि नाट्य प्रयोग के लिये हल्के और दिखावटी अस्त्रों की रचना लाख, बाँस आदि से होनी चाहिए। शस्त्र का प्रहार वास्तव में न किया जाय. स्पर्श मात्र से संकेत दिया जाय, अन्यथा प्रहार होने से व्यक्ति आहत हो सकता है। (२१/२१८-२२६)।

नाट्यशास्त्र के विस्तृत अध्ययन में सभी विषयों की चर्चा में अनेक निषेध मिलते हैं, परन्तु नाट्यशास्त्रियों ने नाट्य निषेधों की निश्चित संज्ञा उन नियमों को दी है जिनके अन्तर्गत नाट्य वस्तु के (मंच पर प्रत्यक्ष प्रस्तुति के) अनुपयुक्त अंशों का निर्देश किया गया है। भरत ने अपनी व्यावहारिक रंग दृष्टि के कारण यह समझते हुये कि

कथावस्तु के अनिवार्य अंशों का दर्शकों के समक्ष उद्‌घाटन आवश्यक है, यह विधान भी साथ ही किया है कि ये निषिद्ध अंश प्रवेशक में सूचित किये जायें। आगे के सभी नाट्य ग्रन्थों जैसे दशरूपक, साहित्य दर्पण, भाव प्रकाशन और नाटक लक्षणरत्नकोष में प्रस्तुति संबन्धी निषेधों के अन्तर्गत इन्हीं का उल्लेख किया गया है। भरत द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त अन्य निषेधों की चर्चा नहीं मिलती। अतः मुझे लगा कि इस संक्षिप्त टिप्पणी में नाटक के निषेध के अन्तर्गत नाट्य वस्तु की प्रस्तुति संबन्धी निषेधों की ही चर्चा अपेक्षित है। भरत के अनुसार :

युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं,
नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यंक्षाणि तु नांके,
प्रवेशंकैः संविधेयानि
(ना० शा० १८ अध्याय)

अर्थात् युद्ध, राज्यच्युति, मृत्यु तथा नगर का घेरा आदि नाटक में मंच पर प्रत्यक्ष न दिखाकर प्रवेशक का विधान करके उसकी सूचना मात्र दी जानी चाहिये। आगे के नाट्य ग्रन्थों में निषेध की इस सूची में कुछ और बातें भी जुड़ गई हैं।

दशरूपक में कहा गया है कि—

दूराध्वनं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत्॥
—दशरूपक (तृतीय प्रकाश)

अर्थात दूर की यात्रा, वध, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन, अंबरग्रहणादि (कपड़े बदलना) मंच पर नहीं दिखाने चाहिए।

साहित्य दर्पणकार ने इस सूची में शाप, मलत्याग, दन्तक्षत आदि और जोड़ दिये हैं (षष्ठपरिच्छेदः श्लो०—१६, १७, १८)। भाव प्रकाशन में भी इसी सूची को दुहराया गया है (अष्टमो अधिकारः)। इन सब ग्रन्थों और भरत के विवेचन में प्रमुख अन्तर यह है : भरत ने नाट्य कथावस्तु के इन अंशों को सूच्य मानते हुये उन्हें बतलाने के लिये दो अंकों के बीच प्रवेशक का विधान किया है। अन्य ग्रन्थों में प्रवेशक की चर्चा अलग से की गई है परन्तु निषिद्ध वस्तुअंश की सूचना देने के साधन के रूप में उसका चित्रण नहीं किया गया है।

निषेधों की तालिका को देखकर लगता है कि निषेध दो दृष्टिकोणों से रखे गये हैं, एक तो प्रदर्शन-उपयुक्तता, दूसरे सुरुचि अथवा प्रचलन-अनुकूलता। दूर की यात्रा, नगरोपरोधन और कदाचित् मरण भी दिखाना मंच की समय और स्थान की सीमा में सरल न होता, इसीसे उनके संबन्ध में प्रवेशक में कहला देने की व्यवस्था दी गई है। दूसरी ओर स्नान, भोजन, सुरत और शयन आदि प्रत्यक्ष देखने से दर्शकों को सुरुचिपूर्ण नहीं लगेगा, इसीसे उनका निषेध किया गया है।

इन निषेधों के पीछे दर्शकों द्वारा स्वीकार्य न हो पाने का भय भी रहा होगा। इन निषेधों के सम्बन्ध में दो और बातों का ध्यान रखना होगा। एक तो यह कि इनमें से कई निषेध-नियम नाटक पर ही घटित होते हैं, रूपक के अन्य भेदों पर नहीं, जैसे — समवकार आदि कुछ नाट्य प्रकारों में युद्ध वर्जित नहीं, अभीष्ट है :—

युद्धं जलसंभवो वा वाय्वग्निगजेंद्रसंभ्रमकृतो वा ।
नगरोपरोधनो वा विज्ञेयो विद्रवस्त्रिविधः ॥
(ना० शा० १८ अध्याय)

डिम और व्यायोग में भी 'युद्धनियुद्धाघर्षणसंघर्षं कृतः कर्त्तव्यः' बतलाया गया है। वास्तव में रूपक के सभी प्रकारों में नाटक सर्वोच्च है, उसका वातावरण उदात्त, भावयुक्त और विशिष्ट होना चाहिये, अतः स्वाभाविक है कि नाट्यशास्त्रकार ने नाटक के संबन्ध में अन्य रूपक भेदों से विशिष्ट कुछ नियम बनाये हैं।

संरचना और प्रभाविता की दृष्टि से नाटक में पात्र बहुलता भी वर्जित की गई है : जैसे — न महाजनपरिवारं कर्त्तव्यं नाटकं प्रकरणं वा ।
ये तत्रकार्यपुरुषाश्चत्वारः पंच वा ते स्युः ।

पात्रों की कमी का विधान भी अन्य रूपक प्रकारों के लिये नहीं है।

एक रोचक तथ्य यह भी है कि नाट्य निषेधों का पालन सभी नाट्यकारों ने पूरी तरह नहीं किया है। जैसे भास के प्रतिमा नाटक में दशरथ की मृत्यु का चित्रण किया गया है। दशरथ— अये रामकथाश्रवणसंदग्ध हृदयं मामाश्वसयितुं आगताः पितरः। कोऽत्र। का०— जयतु महाराजः। दशरथ— आपस्तावत्। राम ! वैदेहि ! लक्ष्मण ! अहमितः।

पितृणां सकाशं गच्छामि। पितरः अयमहमागच्छामि। (मूर्छया परामृष्टः)

(कांचुकीयो यवनिकास्तरणं करोति) सर्वे हा हा महाराजः (प्रतिमानाटक द्वितीयोऽकः)

शूद्रक कृत मृच्छकटिक में शकार वसंतसेना (नायिका) का वध करने के लिये आक्रमण करके उसका गला घोंट देता है जब कि हम जानते हैं कि नाट्यशास्त्र के अनुसार मृत्यु और बध दिखाना निषिद्ध है। इस संबन्ध में यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि भास और शूद्रक दोनों प्रारम्भिक नाट्यकार हैं। कालिदास तथा उनके परवर्ती नाटककारों ने इन निषेधों का पूर्णतया पालन किया गया है। सम्भव है कि भास और शूद्रक के समय तक नाट्यशास्त्र को उतनी मान्यता प्राप्त नहीं थी। खेद है कि हमारे देश में संस्कृत नाटकों की प्रस्तुति की कोई जीवन्त प्राचीन परम्परा नहीं है कि उसके आधार पर नाट्यशास्त्र के व्यावहारिक उपयोग की बात निश्चित की जा सके। केरल के नाट्य प्रदर्शन कूडिअट्टम् के प्रस्तुतकर्त्ता अवश्य दावा करते हैं कि यह संस्कृत नाट्य प्रदर्शन की प्राचीन प्रणाली का जीवन्त रूप है, परन्तु इसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता। ऐसा लगता है कि समय के साथ उसमें भी कुछ परिवर्तन तो हुए ही होंगे। उधर केरल के ही परम्परा शास्त्रीय नृत्यनाट्य 'कथकलि' में वध का दृश्य बड़ा विस्तृत होता है और अभिनेता (जैसे कि कीचक वध में भीम) वध करने की लम्बी प्रक्रिया को विस्तार से दिखाता हुआ बड़े उच्च स्वर से अट्टहास करता, प्रसन्नता व्यक्त करता है। वध के अभिनय की सजीवता अभिनेता के लिये गौरव का विषय होती है। इस सदर्भ में यही मानना उचित जान पड़ता है कि नाटक के 'सम्भ्रांत' वातावरण में बहुत साधारण, दैनंदिन अथवा बीभत्स बातों का प्रदर्शन स्वीकार्य नहीं था, परन्तु अन्य रूपों में विभिन्न स्थितियों में वही दृश्य प्रत्यक्ष प्रस्तुत होते रहे होंगे, तभी इस प्रकार के दृश्य उस समय उपरूपकों में और आज के पारंपरिक नाट्य में स्थान पा सके हैं।

भरत की नाटक संबन्धी अनेकानेक चर्चाओं से बार-बार यह निश्चय होता है कि भरत के समय में नाट्य प्रदर्शन अत्यन्त लोकप्रिय रहे होंगे और इतने अधिक होते होंगे कि नाट्यशास्त्र में नाटक के हर पक्ष को व्यावहारिकता से प्रस्तुत करना अनिवार्य लगा है। आगे चलकर जैसे जैसे नाट्य प्रदर्शन कम होते गये नाटक की चर्चा भी अधिकाधिक सैद्धान्तिक होती गई। और बहुत आगे चलकर तो रस विवेचन ही हमारे काव्य (अथवा नाट्य) शास्त्र का सर्व-प्रमुख विषय बन गया। ००

भरत की दृष्टि में प्रेक्षक

□ श्री विष्णुकान्त शास्त्री

● महामुनि भरत यह तो मानते थे कि नाटक सार्ववर्णिक (सभी वर्णों के लोगों के लिए, आमलोगों के लिए) होता है किन्तु वे यह भी मानते थे सर्वशास्त्र, शिल्प, कला, विद्या आदि को अपने में समेट लेनेवाले नाटक का समुचित रसास्वादन करने वालों में भी कई गुणों की अपेक्षा है। इसीलिए उनके अनुसार नाटक देखने वालों की सटीक संज्ञा 'प्रेक्षक' है, 'दर्शक' नहीं। दर्शक का अर्थ है देखने वाला। अपेक्षित गुण न होने पर भी यदि कोई नाटक देखने पहुंच जाता है तो दर्शक बन ही जाता है। ऐसा व्यक्ति भी नाटक का अपनी क्षमता भर उपयोग कर लेता है किन्तु प्रायः उसके मर्म तक नहीं पहुंच पाता। नाटक की मर्मोपलब्धि तो उसी को होती है जो वस्तुतः प्रेक्षक हो। प्रेक्षक अर्थात् प्रकृष्ट—श्रेष्ठ ईक्षक या दर्शक। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र के सत्ताइसवें अध्याय के निम्नलिखित श्लोकों में प्रेक्षक अपेक्षित गुणों की लम्बी तालिका दी है।

चारित्राभिजनोपेताः शान्तिवृत्तश्रुतान्विताः।
यशोधर्मरताश्चैव मध्यस्था वयसान्विताः॥
षडङ्गनाट्यकुशला प्रबुद्धाः शुचयः समाः।
चतुरातोद्यकुशला नेपथ्यज्ञाः सुधार्मिका॥
देशभाषाविधानज्ञाः कलाशिल्पविचक्षणाः।
चतुराभिनयज्ञाश्च सूक्ष्मज्ञा, रसभावयोः॥
शब्दच्छन्दोविधानज्ञाः नानशास्त्रविचक्षणाः।
एवंविधास्तु कर्त्तव्याः प्रेक्षका नाट्यदर्शने॥

(ना० शा० २७/५०-५३)

अर्थात् नाटक का वास्तविक प्रेक्षक तो वही है जो चारित्र्यवान्, अभिजन, शान्त, विद्वान्, यशस्वी, धर्मरत, निष्पक्ष वयस्क, नाटक के छहों अङ्गों में कुशल, प्रबुद्ध, शुचि, सम, चारों प्रकारों के वाद्य यंत्रों का जानकार, नेपथ्यज्ञ, धार्मिक, देशभाषा में पटु, कलाशिल्प पारखी, चारों प्रकार के अभिनयों का मर्मज्ञ, रस और भाव का सूक्ष्म द्रष्टा, व्याकरण और छन्दशास्त्र का विद्वान् तथा नाना शास्त्रों का ज्ञाता हो।

भरत इतने से भी सन्तुष्ट नहीं हुए। अपने आदर्श प्रेक्षक से उन्होंने और भी अपेक्षाएं की हैं। उनका कहना है —

अव्यग्रैरिन्द्रियैः शुद्ध ऊहापोहविशारदः।
व्यक्तदोषीऽनुरागी च स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः॥
यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः॥
(ना० शा० २७/५४-५५)

कि नाटक का प्रेक्षक तो वस्तुतः वही है जो संयतेन्द्रिय, शुद्ध, ऊहापोह विशारद, दोषज्ञ, अनुरागी, तोष की स्थिति में तुष्ट, शोक की स्थिति में शोकातुर, दैन्य की स्थिति में दीन होता है। अन्तिम तीन माँगों से यह स्पष्ट है कि भरत की दृष्टि में प्रेक्षक को अनेक गुणों से युक्त होने के साथ-साथ सर्वोपरि सहृदय होना चाहिए। कथावस्तु एवं पात्रों के दक्ष अभिनय से जिन भावों का उद्रेक होना स्वाभाविक है यदि उनका उद्रेक ही किसी दर्शक के हृदय में न हो तो भले ही वह स्थितप्रज्ञ महापुरुष हो, नाटक सम्यक् प्रेक्षक नहीं है। उसके लिए मानवीय भावों की अनुभूति—बल्कि अन्यों (इस क्षेत्र में पात्रों) की भावमय स्थिति के प्रति सह-अनुभूति अनिवार्य है।

भरत इस तथ्य से भलीभांति अवगत थे कि ज्ञानों की विविधता और आयु की अल्पता के कारण इतने सारे गुण एक व्यक्ति में प्रायः नहीं मिलते। फलतः उन्होंने गुणों की तरतमता के आधार पर प्रेक्षकों को उत्तम, मध्यम, एवं अधम कोटियों में बांटा है और स्पष्ट लिख दिया है कि उत्तमजनों द्वारा विचेष्टित नाटक को (मेरे मतानुसार नाटककार, निर्देशक और अभिनेता तीनों का समाहार यहाँ भरत को अभिप्रेत है) अधम प्रेक्षक नहीं समझ पाते। रुचि भिन्नता का हवाला देते उन्होंने लिखा है कि तरुणवर्ग काम संवलित कथावस्तु से, विदग्धजन तात्त्विक वृत्त से, अर्थपरायण समृद्धि प्रदर्शन से, वैराग्यवान् मोक्ष-निरूपण से, शूरवीर युद्धकथा के उग्र भावों से, वृद्धजन पौराणिक धर्माख्यानों से एवं बालक अल्पबुद्धि एवं स्त्रियां हास्यरस या नेपथ्य सम्बन्धी दृश्य से परितुष्ट होते हैं। 'बहुधाऽप्येक समाराधनम्' (नाटक के द्वारा भिन्न रुचियों वाले व्यक्तियों का बहुधा एकत्र समाराधन होता है) किन्तु यह काम कितना कठिन है और इसमें कैसी व्यावहारिक असुविधाएं हैं, इसे भरत मुनि अच्छी तरह समझते थे और इसीलिए उन्होंने प्रयोक्ताओं को इसके प्रति सचेत कर दिया है।

एक ओर नाटककार, सूत्रधार और रंगकर्मी हैं, दूसरी ओर है विद्या, वय, शील, गुण, रुचि आदि की दृष्टियों से विविध स्तरों में विभक्त किन्तु प्रेक्षागार के अन्तर्गत नाटक देखने की सामान्य भूमिका निभाने वाली दर्शक समष्टि! इन दोनों के बीच सम्प्रेषणीयता के जिस शाश्वत तनाव का अनुभव भरत ने किया था उससे आज के रङ्गचिन्तक भी सहमत होने के लिए बाध्य हैं। अन्तर यदि कुछ आया है तो यही कि आज जटिलता और बढ़ गयी है। अधिकाधिक बढ़ती व्यक्तिवादिता और परस्पर विवादमान विरोधी दृष्टियों की बहुलता ने आज सर्वसामान्य मानवीय भूमि को बहुत संकुचित कर दिया है।

फिर भी सच्चाई यही है कि नाटक जितनी मात्रा में "बुधविश्राम सकलजनरंजन" के असंभव लगने वाले लक्ष्य को सिद्ध कर सकेगा, उतनी ही मात्रा में सम्मान्य और लोकप्रिय हो सकेगा, स्थायी गौरव अर्जित कर सकेगा।

इसीलिए भरत के अनुसार नाटक की सिद्धि की कसौटी भी प्रेक्षक ही है। नाट्य प्रयोग यदि सफलतापूर्वक हो रहा है तो प्रेक्षकों में अनुकूल प्रतिक्रिया होगी। हास्य के विविध प्रयोगों पर स्मित, अर्धहास और अतिहास के रूप में धर्मयुक्त कार्यों के श्रेष्ठ अभिनय पर 'साधु साधु' के और करुण रस के प्रयोग पर 'कष्ट-कष्ट' के उद्गार के रूप में तथा विस्मय भाव की प्रधानता होने पर उच्च स्वर में प्रशंसा के 'प्रवृद्धनाद' के रूप में प्रकट होने पर प्रेक्षकों की अनुकूल प्रतिक्रिया नाटक की 'वाङ्मयी सिद्धि' को प्रमाणित करती है। अभिनेताओं के मनोज्ञ अभिनय से अभिभूत होकर जब प्रेक्षक सरोमांच-पुलक, अभ्युत्थान और चेलांगुलीदान की स्थिति में आ जाते हैं तब भरत के अनुसार नाटक की 'शारीरी सिद्धि' होती है। चेलांगुलीदान की स्थिति में प्रेक्षक अपने बहुमूल्य वस्त्र, आभरण आदि अभिनेताओं को प्रदान कर तथा उंगलियां उठा-उठाकर उनकी ओर निर्देश करते हुए अपने परितोष की अभिव्यक्ति करते हैं। वाङ्मयी और शारीरी इन दोनों सिद्धियों को भरत 'मानुषी सिद्धि' ही मानते थे। उनके अनुसार मानुषी सिद्धि से भी श्रेष्ठ है 'दैवी सिद्धि'। उसको स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है,

सा सत्त्वातिशया ज्ञेया भावयुक्ता तथैव च ।
नाट्ये संप्रेक्षकैर्ज्ञेया नित्यं सिद्धिस्तु दैविकी ॥
न शब्दो नैव च क्षोभो न चोत्पातनिदर्शनम् ।
सम्पूर्णता च रङ्गस्य सा सिद्धिर्दैविकी स्मृता ॥
(ना० शा० २७/१६-१७)

अर्थात् जब सत्व की अतिशयता से प्रेक्षकों के मध्य भावयुक्त स्तब्धता छा जाती है, न किसी प्रकार का शब्द होता है, न क्षोभ, न उत्पात, तो उस उदात्त स्थिति को "दैवी सिद्धि" कहते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सिद्धि विधान ही नाट्य प्रयोक्ता का लक्ष्य है जो प्रेक्षकों की अनुकूल सहयोगी, गुणमुग्ध प्रतिक्रिया द्वारा संभव हो पाता है।

नाट्यसिद्धि में संभावित बाधाओं का, उनके निराकरण के प्रयासों का एवं उसकी सम्यक् परीक्षा का विधान भी भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है। वायु, वर्षा आदि के प्रकोप से नाट्यमण्डप का क्षतिग्रस्त होने से या उसमें हाथी, सांप आदि के प्रवेश से होने वाली विशृंखला को दैवी बाधा, विभिन्न प्रतिस्पर्धियों, द्वेषियों, दुष्टों द्वारा नाटक में विकृति उत्पन्न करने की चेष्टाओं को परसमुत्था बाधा, रङ्गकर्मियों की त्रुटियों को आत्मसमुत्था बाधा एवं भूकम्प आदि को औत्पातिक बाधा की संज्ञा दी

गई है। दैवी और औत्पातिक बाधाएँ मिलती जुलती सी हैं किन्तु उनमें अन्तर यही है कि शास्त्रानुसार बने सुदृढ़ नाट्यमण्डप में दैवी बाधाएँ प्रायः नहीं होती जबकि औत्पातिक बाधा पर मनुष्यों का वश नहीं चलता। सबल संगठन और सुनिर्देशित अभ्यास के द्वारा परसमुत्था एवं आत्मसमुत्था बाधाओं से मुक्ति पायी जा सकती है।

नाट्यसिद्धि के निर्णायक अपने अपने विषयों के मर्मज्ञ प्रेक्षक हुआ करते थे जिन्हें प्राश्निक कहा जाता था। नाट्यप्रयोग में जिन जिन कलाओं या विषयों का समावेश हुआ है उनके विशेषज्ञ (जिनकी संख्या दस या उससे भी अधिक हो सकती थी) रङ्गमंच के निकट बैठकर सिद्धियों और बाधाओं का हिसाब करते थे और सुनिश्चित नियमों के अनुसार निष्पक्ष होकर अपने निर्णय देते थे। उनके निर्णय के अनुसार ही रङ्गकर्मियों को पुरस्कृत या धिक्कृत किया जाता था। आज के रङ्गसमीक्षक पुराने प्राश्निकों के स्थानापन्न हैं। अलग अलग विशेषज्ञों के स्थान पर एक ही रङ्गसमीक्षक के निर्णय में एक प्रबुद्ध प्रेक्षक की समग्र प्रतिक्रिया भले ज्ञात हो किन्तु निष्पक्ष पूर्णांग विवेचन की गुंजाइश कम है, यह स्वीकार करना पड़ेगा।

सचमुच विस्मित होना पड़ता है यह देखकर कि भरत ने प्रेक्षकों और उनके उत्कृष्ट प्रतिनिधियों प्राश्निकों को नाट्य प्रयोग में कितना महत्वपूर्ण स्थान दिया था। आज भी प्रेक्षकों के प्रति ऐसा समादर, स्नेह, सद्भाव रङ्गकर्म के उन्नयन के लिए आवश्यक है। ००

अथ बाह्यप्रयोगेषु प्रेक्षागृहविवर्जिते।
विदिक्ष्वपि भवेद्रंगः कदाचिद्भर्तुराज्ञया

प्रेक्षागृह से रहित बाह्य प्रयोग में कदाचित् प्रेक्षाधिकारी की आज्ञा से विदिशाओं में भी रंगस्थली हो सकती है।

नाट्यशास्त्र का २८वां अध्याय
और
आचार्य बृहस्पति

□ श्रीमती रविप्रभा बर्मन

● संगीत महामहोपाध्याय आचार्य बृहस्पति ने भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के २८ वें अध्याय के अध्ययन-मनन में जीवन के ३५ वर्ष लगा दिए और बड़े श्रम से विद्यार्थियों की सुविधा के लिए प्रत्येक शब्द का अर्थ किया, संस्कृत में भाष्य लिखा, हिन्दी में टीका लिखी, जो कि अब प्रकाशित होने की प्रतीक्षा में है। इस ग्रन्थ से आचार्य जी को बहुत सन्तोष मिला और वे सदैव इसे विश्व भर के संगीत का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ मानते रहे। मन में जिज्ञासा उठना स्वाभाविक था कि आखिर नाट्यशास्त्र में ऐसी क्या विशेषता है ? क्या यह विद्वानों के लिए लिखा गया है या विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी है ? संगीत शिक्षा से उसका कोई संबन्ध हैं तो क्या है ? सीधे सपाट प्रश्न। सामने वाले की शंका का समाधान करना उनका व्यसन था। और जहाँ तक संभव हो अपनी बातचीत को टेप करा देने की आदत थी। आज उसी टेप रिकार्डिंग के माध्यम से मैं उनके कुछ विचार संग्रहीत करके आपके सम्मुख रखने की चेष्टा कर रही हूं। मेरे समझने में भूल चूक हो जाना स्वाभाविक है, उसके लिए सुधीजनों से क्षमा माँगती हूं।

आचार्यजी के विचार से नाट्यशास्त्र, नटकर्म यानी अभिनय का शास्त्र है और इसके अन्दर सारे जीवन, समस्त समाज का चित्रण सन्निहित है। यह लोक-जीवन का शास्त्र है। ऐसा शास्त्र जो पूरे जीवन का अभिनय कर सके। यह अभिनय कभी वाणी से, कभी अङ्ग से, कभी किसी वाह्य वस्तु की सहायता से व कभी भीतर के भावों से होता है जिन्हें हम 'वाचिक अभिनय', 'आहार्य अभिनय', 'आङ्गिक अभिनय' व 'सात्विक अभिनय' का नाम देते हैं।

जीवन में गाना भी है। वह शास्त्र जो सम्पूर्ण जीवन के अभिनय का शास्त्र है, उसमें संगीत का होना आवश्यक है। अतः भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के २८वें से ३२वें अध्याय तक संगीत का निरूपण किया है। २८वें अध्याय में वाद्यों का विवेचन करते हुए स्वरों के विविध विस्तार का विशद परिचय दिया है। इस अध्याय से प्राचीन

भारतीय संगीत की मौलिक रूपरेखा भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। सांगीतिक ध्वनियां क्या है, उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, वह सम्वन्ध नैसर्गिक है या प्राकृतिक है या मस्तिष्क की उपज है, वह सार्वभौमिक, सार्वकालिक है या नहीं—यह सब उन विषयों में से एक है जिनका प्रतिपादन २८वें अध्याय में किया गया है। इस अध्याय से हमें मोटे तौर पर निम्नलिखित बातों का पता चलता है ;—

१. संसार के संगीत के इतिहास में हम यह सिद्ध कर सकेंगे कि 'संवाद' का पूरा ज्ञान हमें यूनानियों से पहले हो चुका था।

२. भौतिक शास्त्र (Physics) ने ध्वनि के जिन सिद्धान्तों को आज प्रतिपादित किया है, समाधि की अवस्था में उन सिद्धान्तों का दर्शन करने के बाद उनको जानने के प्रयोग की विधि हमारे ऋषियों ने हमें आज से हजारों वर्ष पहले ही बता दी थी।

३. 'रागों' के वैज्ञानिक अध्ययन का सर्वसुलभ उपाय हमारे पास है। चूंकि हम इतने गौरवशाली पूर्वजों की सन्तान हैं, अतः हमारा कर्तव्य है कि हम उस ज्ञान की रक्षा करें, उसके प्रचार व प्रसार में पूरा सययोग दें।

४. संगीत के विषय में, विदेशों में बहुत काम हमारे कलाकारों द्वारा हुआ है पर गलती से कुछ भ्रामक वातें भी फैला दी गई है। उदाहरण के लिए, हमारे एक महान सितारवादक ने रूस में यह कहा कि 'नोटेशन' का आविष्कार भातखण्डे जी ने किया है। उसके पहले भारतीय संगीत में नोटेशन नहीं होता था जबकि तथ्य यह है कि ग्यारहवीं शताब्दी में नोटेशन पद्धति हमारे यहाँ से ही अरबों के पास पहुंची और वहाँ से यूरोप में पहुंची। अपनी रूस-यात्रा के दौरान बृहस्पति जी ने इस भ्रामक बात को गलत सावित किया और कम से कम २५ रूसी विद्वानों को 'संगीत रत्नाकर" और मतंग मुनि का 'बृहद्देशीय" दिखाकर पूर्णसन्तुष्ट किया, जहाँ नोटेशन के दर्शन उन्होंने स्वयं किए। सामवेद का नोटेशन अंकों में है यह बात छिपी नहीं है।

संगीत के इतिहास से परिचित नहीं होने के कारण अमेरिका में एक और भ्रान्ति भी इन्हीं सितार-वादक महाशय के द्वारा फैलाई गई। उन्होंने वहाँ प्रचार किया कि 'कर्नाटक संगीत' ही विशुद्ध वैदिक सगीत है, उत्तर भारत का संगीत तो मुसलमानों द्वारा भ्रष्ट हो चुका है। परिणाम स्वरूप अमेरिका में कर्नाटक संगीत का प्रचार होने लगा और उत्तर भारत के कलाकार मूर्ख बन बैठे। वस्तुतः संगीत, संगीत है उसमें उत्तर और दक्षिण का प्रश्न कहाँ ? चाहे दक्षिण का सामवेद गायन सुनिये या उत्तर काश्मीर का, दोनों में नोट्स एक से ही होंगे। भरतमुनि उत्तर काश्मीर के निवासी थे। और उस समय के ऋषि पैदल ही सारे देश की यात्रा करके पूरे भारत को एक देश मानते।

नाट्यशास्त्र के अध्ययन से सारे भ्रमों का निवारण होगा। जो सत्य है, उसका प्रतिपादन करने की बड़ी आवश्यकता है साथ ही यह बड़े साहस का काम है। भरत ऋषि थे, आप्त थे, मुनि थे। कोई उनके लिए अप-प्रचार करे, यह आचार्य को सह्य नहीं था। यह सत्य है कि नाट्यशास्त्र पढ़ने से वर्तमान मान्यताओं को इधर से उधर भी करना पड़ता है जो कभी कभी बड़ा कष्टदायी होता है पर पढ़े-लिखे लोगों को सत्य का सामना करने का साहस होना ही चाहिए।

५. वैज्ञानिक रीति से जिस स्वरविधि का प्रतिपादन नाट्यशास्त्र में किया गया है उसका तादात्म्य आज के 'फिजिक्स' के साथ ठीक बैठता है। "ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तां तथैव भजम्यहम्" वाली श्रीकृष्ण की उक्ति के अनुरूप 'सत्य' एक है, विद्वान अपने अपने मतानुसार उसका दिग्दर्शन तरह-तरह से करते हैं। 'ध्वनि' के सम्बन्ध में जो आज प्राकृतिक सत्य है, उस तक हमारे पूर्वज बहुत पहले पहुंच चुके थे। उस 'स्वर-शास्त्र' से आज का कोई 'राग' या भविष्य का कोई भी 'राग' बचा नहीं है। यह स्वर शास्त्र सनातन है। स रे ग म··· आदि स्वर एक प्रकार की वर्णमाला हैं। सरेग, रेगम, गमप आदि अलंकार हैं। स्वरों व अलांकारों के अलावा राग का एक अलग व्यक्तित्व है।

उदाहरण के रूप में, एक समय था जब सन्तान के साथ माता का नाम लगता था सौमित्र, कौन्तेय आदि। उस युग का यह ग्रन्थ है इसलिए इसमें उन 'राग माताओं' का वर्णन है, जिनसे राग उत्पन्न हुए। वहाँ एक पारिभाषिक टेकनिकल शब्द है 'जाति'। आज की 'औढ़व जाति' या 'षाडव जाति' से मतलब नहीं है। देश भर में अनेक प्रदेश हैं, अनेक प्रदेशों में अनेक क्षेत्र हैं—वहाँ बहुत सी 'धुनें' लोक में प्रचलित हैं। हमारे पूर्वजों ने देशभर में भ्रमण करने के बाद उन धुनों को इकट्ठा किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है। ये दो भाग 'षड्ज ग्राम' और 'मध्यम ग्राम' कहलाए। किसी कैम्प को या कुम्भ के मेले को 'ग्राम' नहीं कहते, यद्यपि वहाँ जन समुदाय व उसके उपयोग की सभी वस्तुएं उपलब्ध रहती हैं। 'ग्राम' उस आबादी या बस्ती को कहते हैं जो स्थायी होती हैं, जहाँ एक का दूसरे से सम्बन्ध होता है, जिसका एक चौधरी होता है, जो एक व्यवस्था को कायम रखता है। इस प्रकार संगीत में 'षड्ज ग्राम' और 'मध्यम ग्राम' के नाम से दो ग्राम हुए और उनमें एक का चौधरी हुआ 'षड्ज' और दूसरे का 'मध्यम'। यदि 'स्वर' को व्यक्ति कहें तो 'ग्राम' गांव हैं। एक गाँव में पहुंचने के लिए कई गलियाँ होती हैं, उन गलियों को 'मूर्च्छना' कहा। हमारे संगीत-शास्त्र में सब शब्द लोक से लिए गए हैं। धुनें किसी ने बनाई नहीं थीं वरन् उन्हें इकट्ठा करके उनका वर्गीकरण किया, 'क्लासीफाई' किया। समस्त देश में प्रचलित संगीत से उनका परिचय रहता था। उदाहरण के रूप में एक जाति 'आन्ध्री' है, एक 'षड्जोदीया वा' जिससे तात्पर्य आन्ध्र के आस पास प्रचलित और षाड़जी जाति का वह रूप जो उत्तर में प्रचलित हो। इस प्रकार अन्यान्य १८

जातियों का विशद विवेचन २८वें अध्याय में मिलता है जिनमें ७ शुद्ध जाति और ११ संकीर्ण जातियां हैं। और उस सिद्धान्त से संसार भर के सब राग परिचालित होते हैं। मूर्च्छना पद्धति जिसे हम भूल गए हैं वह यूरोप के लोक संगीत में प्रचलित है। आचार्य जी को हंग्री का लोक संगीत सुनकर आश्चर्य मिश्रित गर्व का अनुभव हुआ कि किस प्रकार 'भूपाली, मालकोष, दुर्गा, मेघ, धानी' आदि हमारे राग वहाँ के सुदूर लोक-संगीत में घुले मिले हैं। देशी रागों के देशीत्व का ज्ञान भी नाट्यशास्त्र के अध्ययन से होता है। नाट्यशास्त्र में उन आधारभूतधुनों व जातियों का पूरा विवेचन है जिनकी कसौटी पर हम लोकगीत को कस सकते हैं।

६. ईरान के लोग, जो हमारे बारह स्वर हैं, उन बारह स्वरों को अलग-अलग नामों से जानते हैं और किसी को किसी का विकार नहीं मानते। जब मुसलमान हमारे यहाँ आए तो हारमोनियम पर १२ पर्दों को जानते थे ओर हम सात मानते हैं। अब समझौता कहाँ हो? ईरानी 'षड्ज' को 'रास्त' कहते थे और वह स्वर अचल, अपरिवर्तनीय होता था। तो समझौता यह हुआ कि 'स' अचल है ही, 'प' को भी अचल मान लेते हैं बाकी ५ स्वरों को दो-दो करके कुल १२ पर्दे हो गए। इस प्रकार गणना कर ली गई पर भारतीय स्वरों का अर्थ क्या है—इस पर विचार नहीं किया गया। आज हम 'ठाठ पद्धति' से विचार करते हैं पर हमारा पुरातन मूल 'षड्ज ग्राम' 'काफी' के सरे गम पध नि'—उनका मूल सरगम था। उनका मूल ठाठ काफी था। काफी' के गान्धार को 'की नोट' मानकर 'स रे ग म प ध नि' गाने से 'कल्याण ठाठ' बन जाता है। भरत मुनि के समय का विद्यार्थी यदि 'कल्याण' गाए तो जोड़े के तार को 'ग' कहेगा और 'ग म प ध नि स रे' गाएगा। 'ग' वादी स्वर है—का अर्थ है कि काफी का 'ग' इसका 'की नोट' है। 'वादी' और 'संवादी' जैसे शब्दों का अर्थ भी नाट्यशास्त्र के पढ़ने से स्पष्ट होता है। 'विलावल' गाना हो तो जोड़े के तार को 'नि' कहेंगे और 'नि स रे ग म प ध' गायेंगे। 'खमाज' गाने के लिए 'म प ध नि स रे ग' कहेंगे। 'भैरवी' के लिए रे ग म प ध नि स' कहेंगे। यह हमारी "मूर्च्छना पद्धति" है। यदि हम जानना चाहें कि भैरवी ठाठ किस मूर्च्छना में मिलेगा, तो उत्तर है—' मध्यम ग्राम के ऋषभ से आरम्भ होने वाली शुद्ध मूर्च्छना में।" आज के गाए जाने वाले सब राग वहाँ मिलेंगे पर स्वरों के नाम अलग होंगे। उस जमाने में 'की नोट' का नाम कभी 'स' होता था, कभी 'रे' होता था, कभी 'ग'। किसी स्वर को 'की नोट' बनाना एक अवस्था है, एक स्थिति है, एक उपाधि है। राग वही है स्वर वही है, पर कोई भी स्वर हमेशा राजा नहीं होता। आचार्य जी उदाहरण देते थे कि "आपके लड़के की शादी है तो आप 'दुल्हा के बाप' हो सकते हैं 'दूल्हा' नहीं। घोड़ी पर लड़का बैठेगा, मौर उसी के बँधेगा, आपके नहीं। भले ही आप कितने बड़े हों।"

७. नाट्यशास्त्र के २८वें अध्याय से हमें यह पता चलता है कि किस प्रकार हमारे ऋषियों ने 'षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद—इन सातों स्वरों

की स्थापना की थी; किस तरीके से 'सप्तक' का पता चलाया था। 'सप्तक' का अंग्रेजी अनुवाद अक्टेव नहीं है। अक्टेव तो अष्टक है। राजनीतिक उथल-पुथल से विदेश का संगीत भी हमारे यहाँ आया और हमने उसे अपना लिया। उसमें 'फर्स्ट हाफ' का बेसिक नोट 'स' और 'सेकेन्ड हाफ' का बेसिक नोट 'प' मान लिया। भारतीय स्वर में 'मध्यम' स्वर प्रधान है, मध्यम केन्द्र है, ध्रुव है, अपरिवर्तनीय है। 'स' सप्तक का आदिम स्वर है, 'नि' अन्तिम स्वर और 'म' ठीक (इक्जेक्ट) बीच में—स-म-नि। हमारे विचार करने की पद्धति यह है कि पहले तार पर 'स' चौथे पर उसका 'शुद्ध मध्यम' सातवें पर उसका (चौथे का) मध्यम मिलाए। स म नि तीन स्वर मिल गए। षड्ज, मध्यम और निषाद की स्थिति सहज या प्राकृतिक, शुद्ध और सापेक्ष हैं। यह सम्बन्ध 'षड्ज मध्यम भाव' अथवा 'कान्सोनेंस ऑफ फोर्थ' कहलाता है। षड्ज और पंचम का सम्बन्ध भी प्राकृतिक और सनातन है इसीलिए पंचम का अर्थ 'सप्तक का पाँचवाँ स्वर' तो है ही, 'पंच+म' अर्थात् 'स्वरों के विस्तार को नापने वाला' भी है। षड्ज और मध्यम में यदि 'मध्यम' को 'षड्ज' कहा जाये तो षड्ज स्वतः पंचम हो जायेगा। निषाद और गान्धार में षड्ज मध्यम भाव है और धैवत तथा ऋषभ में भी। ढंग से मिले हुए तानपूरे के मन्द्रषड्ज के तार छेड़ने पर एक सहज सूक्ष्म उपध्वनि सुनाई देती है जिसे संगीतानुरागी 'तम्बूरा गान्धार' कहते हैं। सर्वप्रथम तुम्बुरु ऋषि को यह ध्वनि सुनाई दी थी। मन्द्र षड्ज की ध्वनि को यदि 'मध्यम' कहा जाय, तो यह सूक्ष्म ध्वनि धैवत' हो जायगी। धौवानों को सुनाई देने वाला स्वर-धैवत। 'मध्यम धैवत' 'का सम्बन्ध भी सहज और सनातन है, पाश्चात्य संगीत शास्त्री इस 'मध्यम-धैवत' सम्बन्ध को 'कोन्सोनेन्स आफ थर्ड' कहते हैं। यूनान के प्रसिद्ध तत्ववेता पायथागोरस को इस सम्बन्ध का ज्ञान नहीं था। निश्चय ही 'मध्यम-धैवत-भाव' का ज्ञान यूनान को भारत की देन है।

८. कुछ पारिभाषिक शब्द हैं, जिनका अर्थ या तो बदल गया है या हम आज भूल बैठे हैं। उनको समझने के लिए हम नाट्यशास्त्र का सहारा ले सकते हैं। इस समय जो प्रचलित राग है—कल्याण ठाठ के, बिलावल ठाठ के, आसावरी या भैरवी आदि ठाठ के—उन सभी रागों का बीज आपको नाट्यशास्त्र में मिलेगा। किसी भी राग का कौन सा रूप शुद्ध है और कौन सा नहीं, इसकी कसौटी भी वहाँ है। रागों का संकर रूप कैसे-कैसे बनता है, आज के प्रचलित रागों में कौन से संकीर्ण और कौन से असंकीर्ण राग हैं और क्यों?—इस सबका ज्ञान २८वें अध्याय के अध्ययन से हो सकता है। नाट्यशास्त्र को जो लोग समझते थे, उनके समय तक पहुंचने में शब्दों के अर्थों में परिवर्तन क्यों व कैसे हुआ है इसकी जानकारी आवश्यक है।

आज हमारा जो संगीत प्रचलित है उसके अतीत को और उसके विज्ञान को समझने में नाट्यशास्त्र हमें सहायता देता है। नाट्यशास्त्र का वह प्रकरण जिसमें संगीत की चर्चा है उसपर टीका करने वालों में प्रमुख थे आचार्य अभिनव गुप्त। वे अनेक

ग्रन्थों के रचयिता, विद्वान, नाट्यशास्त्री, वीणावादक व सर्वंगुण सम्पन्न व्यक्ति थे। महमूद गजनवी के आक्रमण के समय अपने १२०० शिष्यों के साथ अभिनव गुप्त ने समाधि ले ली थी। नाट्यशास्त्र को अभिनव गुप्त ने अपने गुरूमुख से पढ़ा था व गुरू के गुरू (दादा गुरू) के मुख से भी पढ़ा था। उनकी लिखी टीका "अभिनवभारती" सन् १९६४ में प्रकाशित हुई। पर मुद्रण के अभाव में संस्कृत जगह-जगह पर टूटी-फूटी, क्षत विक्षत और त्रुटिग्रस्त है। आचार्य बृहस्पति ने भगवान शार्ङ्गदेव और आचार्य अभिनव गुप्त की परम्परा को इस युग के लिए सुलभ बनाने हेतु नाट्यशास्त्र का जीवन भर अध्ययन किया। (बिना किसी टीका की सहायता के) और १९५९ में उनका 'भरत का सिद्धान्त' नामक अमूल्य ग्रन्थ छपा। उसके ५ वर्ष बाद अभिनव गुप्त की टीका छपी और आचार्य जी स्वयं को शाबाशी देते हुए कहते थे कि मैंने कुल ५ प्रतिशत भूल की थी। पर गलती एक भी नहीं होनी चाहिए। फिर श्रम किया और संस्कृत में 'संजीवनभाष्य' और साथ ही हिन्दी में 'साधना टीका' के रूप में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के २८वें अध्याय का परिचय आज के विद्वानों और सगीत प्रेमियों को कराने की चेष्टा की। मध्यकालीन शताब्दियों में यद्यपि संगीत के कुछ ग्रन्थ लिखे गए थे, पर लेखकों ने मूल ग्रन्थों का अध्ययन करने के बजाय गायकों की विभिन्न श्रेणियों की आनुवांशिक पद्धतियों में चली आती हुई शास्त्रीय परम्परा और ईरानी विकृतियों के आधार पर शास्त्र की मनमानी कल्पना कर ली।

आधुनिक युग के पुनर्जागरण काल में पाश्चात्य प्रेरणा से एक बार पुन: अध्ययन, अनुशीलन और आलोचन का प्रारम्भ हुआ। अन्य शास्त्रों के साथ भारतीय संगीत के शास्त्रीय पक्ष की ओर भी लोगों का ध्यान गया पर संगीत के क्षेत्र में विडम्बना यह थी कि जो संगीत के मर्म को समझते थे, वे संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा के अध्ययन से वंचित थे और जो संस्कृत के विद्वान होते थे वे संगीत से अपना किंचित्मात्र भी लगाव मानने में मानहानि सी समझते थे। वैषम्य की स्थिति में परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्य पद्धति से पढ़े हुए लोग संस्कृत शास्त्रों को समझने में अक्षम होकर शास्त्रों को ही गलत बताने लगे और शास्त्रों की निन्दा करते हुए मनमाने ढंग से सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे। अहम्मन्य आधुनिक विद्वज्जन पुरातन आचार्यों की विद्या और बुद्धि के तप: पूत वैभव के प्रति आस्थाहीन होकर अलग बैठ गए। इस प्रकार की विप्लवमयी स्थिति में आचार्य कैलाश चन्द्र देव बृहस्पति का उदय एक महत्वपूर्ण घटना की तरह है। पर देश का दुर्भाग्य—एक अपूरणीय जाज्वल्यमान सितारा असमय में ही अस्त हो गया। संगीत की क्षति हुई। खेद का विषय है कि हम उन्हें पहचान न सके। कभी-कभी खीझ कर कहा करते थे कि "मैं अच्छा भला संस्कृत, पाली, उर्दू का विद्यार्थी था, धर्मशास्त्र का अध्यापक था, कहाँ से इस संगीत के चक्कर में आ फँसा।" पर यह चक्कर ही उनका जीवन प्राण था। संगीत का शास्त्रीय-पक्ष और व्यावहारिक-पक्ष दोनों का निर्वाह साथ-साथ किया। प्रत्येक सिद्धान्त को हाथों हाथ प्रयोग में लाकर जब तक जनता के सामने प्रत्यक्ष-गोचर न करा दें, उन्हें तुष्टि नहीं होती थी।

इसीलिए तो पालने में सोये हुए अपने बच्चे को भूमि पर सुलाकर उसी काठ को तोड़कर 'बृहस्पति-वीणा, 'बृहस्पति किन्नरी' और 'श्रुति दर्पण' जैसे अद्भुत वाद्यों का निर्माण कर डाला, जिनके माध्यम से उन्होंने भरत की स्वर-विधि का स्पष्टीकरण किया और बाइसों श्रुतियों का प्रत्यक्षीकरण कई सभाओं में विद्वत्मंडली के सम्मुख प्रस्तुत किया। नाट्यशास्त्र से पाए गए सिद्धान्तों के अनुसार उन्होंने कई शिष्यों को संगीत शिक्षा दी। उनके ज्ञान को व्यवहार में उतारने का श्रमसाध्य प्रयत्न कर रही हैं उनकी पत्नी, शिष्या, सखी श्रीमती सुलोचना यजुर्वेदी। इनसे संगीत जगत को बड़ी आशा है। आचार्य जी के लेखन की प्रतिभा इतनी बहुमुखी थी कि पढ़कर विश्वास नहीं होता था कि एक जन्म में, केवल ६० वर्ष की आयु तक में, एक व्यक्ति ने इतने विविध रंगों का काव्य कैसे रच डाला। 'भरत का संगीत सिद्धान्त', 'ध्रुवपद और उसका विकास', 'मुसलमान और भारतीय संगीत', 'खुसरो, तानसेन और अन्य कलाकार', 'संगीत समयसार' (जैन ग्रन्थ पर आधारित), 'संगीत चिन्तामणि' आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। और इनमें से कई विभिन्न संस्थानों द्वारा पुरस्कृत भी हो गए हैं। अब "नाट्यशास्त्र का २८वां अध्याय" छपने के लिए तैयार रखा है। खेद का विषय है कि अपने जीते जी आचार्य जी अर्थाभाव के कारण इस ग्रन्थ को नहीं छपवा सके। स्वाभिमानी ब्राह्मण थे—भीख नहीं चाहते थे केवल विना ब्याज का रुपया चाहते थे जिसे पुस्तकें बिकने के बाद लौटा देने का वायदा था। पर ? हमारे सहृदय समाज को सौदा मंहगा लगा। इसके अतिरिक्त 'राग चिन्तन' नाम का अनुपम ग्रन्थ भी तैयार है जिसमें एक एक राग की 'फिरत, तानें' उसका शास्त्रीय स्वरूप नोटेशन व 'अनंगरंग' के नाम से मुद्रित उनकी अपनी ही सैकड़ों बन्दिशें—भावार्थ सहित लिखी हुई हैं। आचार्य जी की सदा ही यह अभिलाषा रही कि संगीतशिक्षा में संगीत के साथ-साथ साहित्य पक्ष पर भी बराबर ध्यान रहना चाहिए। 'माँ सरस्वती के एक हाथ में वीणा है और दूसरे में पुस्तक। कैसी विडम्बना है कि हमने सरस्वती को फिफ्टी फिफ्टी कर लिया है।" संगीत वाले पढ़ने लिखने से कोसों दूर हैं और साहित्य वालों ने संगीत को अछूत सा बना रखा है।

इन शास्त्रीय ग्रन्थों के अतिरिक्त 'मेघदूत का कवि' शीर्षक एकांकी नाटकों का संकलन तैयार है। ब्रजभाषा में पद, कवित्त, सवैये, दोहे अति उच्च कोटि के लिखे हुए हैं, जिनमें शान्त रस, भक्ति, नीति, शृंगार और हास्य रस की छटा देखते ही बनती है। उनसे परिचित लोग उनके स्वभाव के विनोदी और मसखरेपन से अवगत हैं। "राग-चिन्तन" के गूढ़ लेखों को अति सरल उर्दू लहजे में,-हाथरस की "संगीत" नामक मासिक पत्रिका में, वर्षों लेखमाला के रूप में निःशुल्क छपाते रहे—शीर्षक था "उस्ताद ने कहा था"—लेखिका "मुश्तरी रामपुरी"। इस लेखमाला को संग्रहीत करके एक अलग पुस्तक बन सकती है। खड़ी बोली में उच्च कोटि की सैकड़ों कविताएं हैं जो उन्होंने समय समय पर लिखी थी। संस्कृत में अनेक छन्द हैं। एक ओर संस्कृत में "पार्वतीलास्यम्" लिख रहे हैं तो दूसरी ओर ठेठ ग्रामीण भाषा में

छोटे छोटे छन्द और प्रवाहयुक्त लय में बँधे 'लोकगीत' जिनको गाँव देहात में गा-बजाकर बड़ा से बड़ा उपदेश बड़े सहज ढंग से लोक मानस तक पहुंचाया जा सकता है।

विस्तार भय से, अति संक्षेप में आचार्य बृहस्पति के साहित्य जगत के कुछ पहलू आपके सामने रखने में मुझे बहुत गर्व का अनुभव हो रहा है। उनकी अप्रकाशित पुस्तकों की रक्षा, प्रचार और प्रसार हमारा धर्म है। इससे हम उन पर कोई उपकार नहीं करेंगे, वरन् स्वयं ही लाभान्वित होंगे और आने वाली पीढ़ी के लिए सत्य का नया मार्ग दिखाने में सहायक सिद्ध होंगे। अन्त में उन्हीं के शब्दों के साथ इस लेख का समापन करती हूँ। स्वयं अपने लिए उर्दू में अनेकों रूबाइयाँ लिख डाली थीं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :—

खुद से

हम निराले हैं ? अनोखे हैं ? अजब हैं ? सच है।
यानी कुछ ऐसे हैं, जैसा कि कोई और नहीं।
कोई मसरफ तो हमारा है, जमाने के लिए।
हम पे गुजरा न हो, ऐसा कोई दौर नहीं॥

एक पहिया है, जो पटरी पे ढुलकता रहता।
एक वह है जो नई राह बना लेता है।
एक वह है कि नहीं मिलते कभी जिसके मिजाज,
एक वह है कि जो रूठों को मना लेता है॥

●○

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना॥

(जो अर्थ हृदय के साथ सम्वाद करता है अर्थात् सभी सहृदयों को जो अर्थ समान रूप से सन्तुलित रूप से प्रतिमांत होता है उस अर्थ के भाव उद्गम से रस का उद्भव होता है। जैसे अग्नि से शुष्क काष्ठ व्याप्त होता है उसी तरह उस भाव से शरीर व्याप्त हो जाता है।)

नाट्यलोचनम्[1] का संक्षिप्त परिचय

□ डॉ॰ अमलशिव पाठक

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के बृहदाकार व तज्जनित तत्कालीन असुविधा को किसी प्रकार मिटाने के लिए परवर्ती आचार्यों ने विषयगत सामञ्जस्य को बनाये रखते हुए उसका संक्षेप करना शुरू कर दिया। उदाहरणार्थ, धनञ्जय का "दशरूपक", नन्दिकेश्वर का "अभिनयदर्पण" व रामचन्द्र का 'नाट्यदर्पण' इत्यादि। इस बात का समर्थन भी उनकी कृतियों में प्राप्त होता है— "इतरैरपि संक्षिप्तं स्वभावादेव भूरि तत्"। इसी परम्परा में एक महत्वपूर्ण कृति "नाट्यलोचनम्" का उल्लेख बार बार दृष्टिगोचर होता है। राघवभट्ट, वासुदेव, रंगनाथ व दिनकर चरित्रवर्धन के कथानुसार शाकुन्तलम्, कर्पूरमन्जरीयम्, विक्रमोर्वशीयम् व रघुवंशम् की टीकाओं में नाट्यलोचनम् का प्रायः उल्लेख आता है। इन उल्लेखों और उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्यलोचनम् में आहार्याभिनय का प्रसंग विस्तृतरूप से विवेचित है और शायद इसीलिए यह तत्कालीन सुधीसमाज में समादृत रहा है। "तत्र मषीवेशस्वरूपं च नाट्यलोचनं", (राघवभट्टटीका-शाकुन्तलम्)। इसके समर्थन में नाट्यलोचनकार स्वयं कहते हैं—

नाट्यलोचनमत्वं क्रम् द्वितीयों भरतोदयः।
नर्त्तक प्रेक्षक प्रीत्यै निर्मिते नाट्यलोचनम्॥

नाट्यलोचनम् की सरस्वतीभवनस्थ पाण्डुलिपि नागरीलिपि है और एशियाटिक सोसाइटी वाली प्रति बंगला लिपि में है। दोनों हीं असम्पूर्ण हैं और दोनों के पाठों को मिलाकर भी सम्पूर्ण कृति उपलब्ध नहीं होती। पात्रप्रवेश-अध्याय में नृत्य में प्रयोग होनेवाले रागों का विवेचन और गतिश्चारी-अध्याय का वृहदंश अनुपलब्ध रह जाता है। ३७ पृष्ठ की सरस्वतीभवन प्रति इस उपर्युक्त त्रुटी के अलावा आपाततः पूर्ण है। इसमें बाकी सभी अध्याय पूर्ण प्राप्त होते हैं। यह प्रारम्भ होता है "स्मृत्वा महानटं देवं" इत्यादि से व "उपाध्याय श्री त्रिलोचनादित्यविरचितं नाट्यलोचनं समाप्तम्" से समाप्त होता है। इसके विपरीत एशियाटिक सोसाइटी की प्रति इस पुस्तक के प्रथमार्ध तक चलकर अचानक छिन्न हो जाती है। प्रथमार्ध से तात्पर्य 'गतिश्चारी' अध्याय तक का है। दोनों ही प्रतियां

★ ऑफ्रेक्ट के कैटलॉग में त्रिलोचनादित्य विरचित "नाट्यलोचनम्" का उल्लेख आता है। यह—नाट्यशास्त्र पर एक अप्रकाशित ग्रन्थ है। उपलब्ध पाण्डुलिपि (१) सरस्वती भवन पुस्तकालय, संस्कृत विश्वविद्यालय, संख्या ४२९३६, (२) एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, संख्या तीन ई-१५८।

एक ही कृति की हैं और इनकी पारस्परिक तुलना नाट्यशास्त्र के अन्य प्रकाशित ग्रंथों की सहायता से, विशेष कर भरत के नाट्यशास्त्र के पाठ से, नाट्यलोचनम् का पाठोद्धार सरल हो जाता है।

वैसे आपाततः सरस्वती भवन प्रति पूर्ण लगती है किन्तु कुछ ऐसे इंगित यत्र-तत्र उसी में मिलते हैं जिससे लगता है कि कुछेक पृष्ठ और भी इस ग्रंथ के थे जो प्राप्य नहीं हैं। जैसे वादित्र, लय और ताल के विवेचन स्थल पर नाट्यलोचनकार कहते हैं—"विशेषस्तु शेषे वक्यव्यः" अपि च—"आक्षिप्तिकादिगीतबन्धुस्तु भंगोपभंगप्रस्तावे दर्शपिष्यामः।" किन्तु शब्दार्थनिश्चयं अध्याय के तुरन्त बाद पुस्तक समाप्त होने की घोषणा, जैसे ऊपर कहा है, हो जाती है और भंगोपभंगप्रस्ताव अप्रस्तुत रह जाता है।

अस्तु. नाट्यलोचनम् ग्रन्थ की प्रकृति निर्धारण करते हुए—"नर्त्तकप्रेक्षकप्रीत्ये निर्मितं नाट्यलोचनम्" कहकर त्रिलोचनादित्य निम्न अध्यायों को अपने परिप्रेक्ष्य में लेते हैं —

१. नाट्यप्रयोजनम्।
२. नान्दीप्रस्तावना प्रवेशकविष्कम्भकाः।
३. मषीवेषौ।
४. स्थानम्।
५. पात्रप्रवेशनम्।
६. गतिश्चारी।
७. रसोभावाः।
८. अभिनयाः।
९. नायक-नायिकाः।
१०. स्मरावस्थाः।
११. हावः।
१२. शब्दार्थनिश्चय।
१३. भंगोपभंग प्रस्तावः।

जैसा पहले बताया गया है, उपर्युक्त अध्यायों में पात्रप्रवेश व गतिश्चारी के अध्याय सम्पूर्ण नहीं मिलते और अन्तिम अध्याय कतई नहीं मिलता।

यह ग्रन्थ मूलतः भरत के नाट्यशास्त्र का संक्षेप माना जा सकता है। ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं— प्रायेण भरतोक्तैव कारिकात्र विलिख्यते। एतदतिरिक्त ग्रन्थकार बहुलांश में सागरनन्दिन के नाट्यलक्षण रत्नकोश से प्रभावित हुए हैं। विषय चयन व उनके विवेचन में वे सागरनन्दिन से प्रेरणा ग्रहण करते हैं— दोनों के ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन इस तथ्य को उजागर कर देता है। स्वयं त्रिलोचनादित्य अपने पूर्वसूरी को

स्मरण करते हैं— 'अस्यैवार्थस्य रत्नकोषे प्रपंचः' इत्यादि कहकर। अपने समय की अपेक्षाओं के अनुसार त्रिलोचनादित्य ने भी नाट्यशास्त्र संक्षेपकरण के साथ ही साथ नायक नायिका, स्मरावस्था हाव इत्यादि अध्यायों में तत्कालीन शास्त्रचर्चा के प्राधान्य को यथेष्ठ स्थान दिया। सम्भवतः यही चर्चा हिन्दी साहित्य के रीतिकाल तक चलती रही। नाट्यप्रयोग से अधिक उसके सैद्धान्तिक विवेचन तत्कालीन प्रयोग से परे होकर इस ग्रन्थ में स्थान पाते हैं। उदाहरणार्थ—साहित्य-दर्पणकार मात्र इतना कहते हैं— इदानीं पूर्वरङ्गस्य सम्यक् प्रयोगाभावादेक एवं सूत्रधारः सर्वं प्रयोजयतीति व्यवहारः। इस प्रकार के उल्लेखों का जो तत्कालीन प्रयोग पक्ष पर जरा भी आलोक सम्पत करते हों नाट्यलोचनम् में नितान्त अभाव है। तथापि शास्त्रीय आलोचना ग्रन्थों में इसका प्राधान्य घट नहीं जाता। त्रिलोचनादित्य अपनी एक रचना का उल्लेख करते हैं :—

नाट्यकोचनमत्रैकं द्वितीयो भरतोदयः।
नर्त्तकप्रेक्षकप्रीत्यै निर्मितं नाट्यलोचनम्॥
द्वितीयं नाटकं कर्म कवेरेवोपयुष्यते।
सन्धिवृत्यादिभागस्तु दर्शितो भरतोदये॥

सम्भवतः अल्लराज के रसरत्नदीपिका में उल्लिखित इसी नाम के ग्रन्थद्वय हमारे आलोचित ग्रन्थकार त्रिलोचनादित्य की ही कृति हैं —

नाट्यलोचनमानन्दवर्धनम् भरतोदयम्।
भावप्रकाशनं चैव तथा शृंगारसागरम्॥

इससे त्रिलोचनादित्य के कालनिर्णय करने में वड़ी सहायता मिल सकती है। अल्लराज का समय ईसा के चौदहवीं सदी का प्रारम्भ माना जाता है। उस समय नाट्य-लोचनम् समधिक ख्याति पा चुका था। इस निष्कर्ष से हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स में एस० के० डे० महोदय के निष्कर्ष से स्पष्टतर निकटतर इंगित मिलता है। वे इसे रघुवंशम् के टीकाकार दिनकर के समय से १३८५ से संयुक्त कर नाट्यलोचनम् के काल की निम्न सीमा १३२६ से १३७५ के बीच रखते हैं। अल्लराज के उपर्युक्त उल्लेख से यह निम्न सीमा १३१० तक आ जाती है क्योंकि अल्लराज अपने को हम्मीर पुत्र बताते हैं व हम्मीर का समय हम्मीर महाकाव्यकार न्यायचन्द सूरी ने १२८३ (संवत् १३३९) सन् बताया है। इस प्रकार अल्लराज का काल चौदहवीं शताब्दी का प्रारम्भ मानना तर्कसंगत होगा।[1]

त्रिलोचनादित्य के काल की ऊर्द्धसीमा सागरनन्दिन के समय से युक्त की जा सकती है क्योंकि नाट्यलोचनम् सागरनन्दिन के नाट्यलक्षणरत्नकोष से बहुत प्रभावित है

1. देखें पृष्ठ ७५— इंट्रोडक्शन आफ भावप्रकाशनम्—संस्करण-जी० ओ० एस० बड़ौदा, १९६८।

और स्थान स्थान पर उससे अंश उद्धृत दिखाई पड़ते हैं। डा० राघवन सागरनन्दिन का कालनिर्णय करते हुए लिखते हैं कि सागरनन्दिन भोज व अभिनवगुप्त के बाद आये और शारदातनय से पहले अर्थात् तेरहवीं सदी से पहले नहीं।[1] इस आधार पर नाट्यलोचशम् का समय १२५० इस्वी के आस-पास कहना मोटे तौर पर स्वीकार्य होगा। अतः पर परवर्ती शोध से निश्चित रूप से त्रिलोचनादित्य का काल निर्धारित किया जायगा।

नाट्यलोचनम् में उल्लिखित ग्रन्थ व ग्रन्थकारों की सूची निम्न है—

ग्रन्थकार : पाणिनि, भृगुस्वामी, भारद्वाज, राहुल, भरत, त्रिलोचनादित्य, मातृगुप्त, भवभूति, मल्लनाग।

ग्रन्थ : मृच्छकटिकम्, अनर्घराघव, रत्नावली, वेणीसंहार, रामचरितम्, बालरामायण, रामानन्द, पुष्पदूषित, गाथा सप्तशती, कुलवीथी, कर्पूरमन्जरी, नाटकलक्षणरत्नकोश, उन्मत्तमाधवम्, चौरिकाविवाह, कुम्भाकं।

कुछेक उद्धरण तो अभी तक पहचाने नहीं गये। वैसे उनमें अधिकतर नायिका स्मरावस्था व हाव से सम्बन्धित है जो राहुल, पद्मश्री इत्यादि के ग्रन्थों से ली गई मालूम पड़ती है। पद्मश्री का "नागरसर्वस्व" तो उपलब्ध है किन्तु राहुलाचार्य की कोई कृति मिल न सकी। अवश्य ही यत्रतत्र उनके उद्धरण तो प्राप्त होते हैं। अस्तु इनका प्राधान्य शास्त्रीय विवेचन के परवर्ती झुकाव की ओर इशारा करता है। नाट्यप्रयोग के स्थान पर नायक नायिका स्मरावस्था इत्यादि का विवेचन मुख्य होता जाता है जैसा पहले भी कहा गया है।

अन्त में, नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा बहुत ज्यादा प्रकाश में नहीं आई। इसमें नाट्यलोचन सरीखा महत्वपूर्ण, बहुजन समादृत ग्रन्थ उपर्युक्त विशेषताओं से सुधी समाज में आशु परिवेशनीय है। इत्यलम्। ००

---

1. देखें पृष्ठ ६—इंट्रोडक्शन टू इंग्लिश ट्रान्सलेशन आफ नाट्यकर्मरत्नकोष-फिलाडेल्फिया-१९६०

नाट्यदल, निर्देशक तथा अभिनेता

□ डॉ० प्रतिभा अग्रवाल

● विभिन्न कलाओं में नाट्यप्रस्तुति की कला सर्वाधिक पूर्ण है क्योंकि इसमें अनेक कलाओं का संगम होता है, समन्वय होता है। नाट्यलेखन, अभिनय, संगीत तथा नृत्य तो नाट्यप्रस्तुति के अनिवार्य अंग हैं ही साथ ही चित्रकारिता, वेशभूषा का निर्माण, आभरणों एवं अलंकारों का निर्माण, रूपसज्जा के लिए उपयुक्त विधान, मुखौटों आदि का निर्माण तथा अन्यान्य छोटे-मोटे न जाने कितने कला रूप हैं जिनका उपयोग नाट्य प्रस्तुति में किया जाता है और जो प्रस्तुति को अधिक कलात्मक, प्रभावपूर्ण एवं रसोद्रेक में समर्थ बनाते हैं। इस दृष्टि से नाट्यप्रस्तुति सर्वाधिक जटिल है, अनेक व्यक्तियों के सहयोग से सम्पन्न होने वाला कलात्मक सृजन है। ध्यान देने की बात है कि कलात्मक सृजन जितना सूक्ष्म और पूर्ण होता गया है, उसके माध्यम से जितनी ही जटिल एवं विविध मनःस्थितियों के चित्रण का प्रयास किया गया है, वह स्वयं उतनी पर निर्भर होती गई है, परमुखापेक्षी नहीं तो परसहयोगापेक्षी अवश्य ही होती गयी है। चित्रकार अकेले बैठकर चित्र अंकित कर सकता है, उसके सृजन के लिये केवल रंग-तूलिका-फलक आदि उपकरण आवश्यक हैं। किन्तु एक गायक या नर्तक का काम केवल विभिन्न वाद्यों से नहीं चलता, कला के सही परिपाक के लिए उसे उन वाद्यों को बजाने वाले सहयोगियों की अपेक्षा भी होती है। नाट्यप्रस्तुति में कलात्मक सृजन और जटिल हो जाता है, दृश्यबंधों का निर्माण एवं अंकन, नृत्य गान आदि के साथ ही वेशभूषा, रूपसज्जा, रङ्गमंच का दीपन आदि नाना तत्वों की अपेक्षा होती है, साथ ही अभिनय करने के लिये साथी कलाकारों की भी। एकालाप (मोनोलाग) की बात छोड़ दें तो अन्य हर प्रकार की प्रस्तुति के लिये एकाधिक कलाकारों की आवश्यकता होती है और इस प्रकार किसी कृति का मंचन नाट्यकार, निर्देशक, कलाकार, नर्तक, वादक, वेशकार. रूपकार, आभरणकार चित्रकार, रजक एवं अन्यान्य अनेक व्यक्तियों के सहयोग से ही सम्पन्न हो पाता है। आवश्यक है कि नाना कलाओं के इतने विशेषज्ञों को साथ लेकर काम करवाने और कसवाने के लिए एक अच्छा संगठन और संगठनकर्त्ता हो। नाट्यप्रस्तुति के लिए अपेक्षित तत्वों उपकरणों तथा व्यक्तियों की व्यावहारिक स्तर पर विशद चर्चा करनेवाले महाग्रंथ नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने इस पक्ष पर एक पूरा अध्याय (३५वाँ अध्याय) लिखा है। अवश्य ही उसमें स्वतन्त्र रूप से नाट्यदल के संगठन की बात नहीं की गयी है, न ही एक कुशल संगठनकर्त्ता के रूप में निर्देशक या सूत्रधार की चर्चा की गयी है तथापि नाट्यदल के साथ युक्त जिन विभिन्न व्यक्तियों की चर्चा की गयी है, उनके कामों के विभाजन का जिस तरह उल्लेख किया गया है, निर्देशक के लिए अपेक्षित गुणों की जो लम्बी सूची दी गयी है उससे

स्पष्ट है कि भरतमुनि के अनुसार निर्देशक को सही मानों में सूत्रधार होना चाहिए, सबकी डोर उसके हाथ में होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही वह किसी भी कृति को सफलतापूर्वक मंचस्थ कर सकेगा।

सबसे पहले हम इसी सूत्र संचालक की बात करें। इस व्यक्ति की दो स्पष्ट भूमिकाएं हैं, एक तो सही काम के लिए सही व्यक्तियों के चुनाव की, दूसरे शिक्षक के रूप में अभिनेताओं को प्रशिक्षित करने की। अवश्य ही कलाकारों के लिए अपेक्षित उपयुक्त वेशभूषा तथा रूपसज्जा का निर्देश भी वही देता रहा होगा, संगीत एवं नृत्य के शास्त्र-सम्मत विधान का पालन भी वही करता और करवाता रहा होगा तथापि अलग से इसका स्पष्ट उल्लेख इस प्रसंग में नहीं प्राप्त होता।

सूत्रधार या निर्देशक के लिए अपेक्षित प्राथमिक गुण है—नाट्य सम्बन्धी सभी तत्वों का ज्ञान, वाणी की स्पष्टता तथा स्वर ताल का ज्ञान। इन गुणों के बिना वह नाट्यकृति को मञ्चस्थ करने में सक्षम हो ही नहीं सकता। इसे ही स्पष्ट करते हुए आङ्गिक एवं वाचिक अभिनय तथा संगीत के क्षेत्र में उसके विशेष ज्ञान का और खुलासा किया गया है। निर्देशक के लिए रूढ़ मुद्राओं एवं गतियों का जानकार होना, भावों एवं मनः स्थितियों का जानकार होना, मानव शरीर के क्रिया व्यापार से सुपरिचित होना, शब्द एवं छन्द शास्त्र का ज्ञान होना, स्पष्ट उच्चार का समझदार तथा चारों प्रकार के वाद्यों को वजाने में कुशल होना आवश्यक कहा गया है। और यह कार्य वह विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन करने के उपरान्त ही कुशलता पूर्वक सम्पन्न कर सकता है अतः उसके लिए शास्त्रों द्वारा निर्धारित विधिविधानों को समझना, मानना और फिर उन पर अमल करना और करवाना भी आवश्यक माना गया है। इनके साथ ही राजनीति, अर्थनीति तथा खगोल विद्या का ज्ञान भी अपेक्षित माना गया है, विभिन्न धर्मावलम्बियों के आचार-विचार से सुपरिचित होना भी। इन क्षेत्रों में अर्जित ज्ञान जहां उसे नाटक को समझने में सहायता पहुंचाने वाला है वहीं वह व्यावहारिक स्तर पर मंचन में सुविधा प्रदान करने वाला और दर्शकों की सामाजिक-धार्मिक श्रेष्ठता की वर्गगत भावना को तुष्ट करने वाला भी है। नाट्यमंचन की दृष्टि से राजदरबार के तौर-तरीकों से परिचित होना, इस पृथ्वी के प्राकृतिक तत्वों से परिचित होना, यहाँ के विभिन्न अंचलों के निवासियों की वेशभूषा आदि से परिचित होना उसके लिए उपयोगी होगा।

इतना ही नहीं व्यक्तिगत रूप से उसमें अच्छी स्मरणशक्ति, बुद्धिमत्ता, धैर्य, उदारता, कवित्वप्रियता, आदि गुण होना चाहिए। साथ ही उसके लिये बात का धनी होना, रोग मुक्त होना, व्यवहार में मृदु होना, सहिष्णु, आत्मनियंत्रित, मृदुभाषी, क्रोधमुक्त सच्चा, निष्पक्ष, ईमानदार तथा प्रशंसा की लिप्सा से मुक्त होना भी आवश्यक माना गया है। अवश्य ही यह आदर्श निर्देशक से की गयी अपेक्षाएं हैं तथापि यह सत्य है कि आज भी अच्छा निर्देशक वही हो पाता है जो इनमें से अधिकांश गुणों से समन्वित

हो। वह जो प्रस्तुत करना चाहता है, जो उपलब्ध करना चाहता है उस सम्बन्ध में पूर्व जानकारी या सजगता के अभाव में उसकी इष्टसिद्धि असंभव है। ये गुण उसके काम को पूर्ण ही नहीं, सहज भी बना देते हैं, निर्देशन का काम उसके लिए ही नहीं, साथ में काम करने वाले और सभी व्यक्तियों के लिये प्रिय एवं सुखद बन जाता है।

नाटक का चुनाव कर लेने के बाद निर्देशक का सबसे महत्वपूर्ण काम होता है कलाकारों का चुनाव। कलाकारों का चुनाव करते समय उसे उन भूमिकाओं को ध्यान में रखना चाहिए जिनके लिए वह व्यक्ति-विशेष को चुन रहा है। अभिनेताओं का उपयुक्त चयन ही किसी भी प्रस्तुति को पूर्ण बना सकता है। इस सम्बन्ध में भरतमुनि ने विस्तृत निर्देश दिये हैं। सबसे पहले उन्होंने अभिनेताओं में जिन सामान्य गुणों का होना आवश्यक माना है, उन्हें देखें। अभिनेता को सक्रिय और प्राणवन्त होना चाहिए, नाटकीय नियमों और रूढ़ियों का जानकार होना चाहिए, नाटकीय उपकरणों से परिचित एवं उनके इस्तेमाल में कुशल होना चाहिए, बुद्धिमान होना चाहिए, सीखने के लिए उत्सुक होना चाहिए तथा अच्छी कदकाठी वाला होना चाहिए। इन मूल गुणों के अभाव में वह न तो अभिनीत चरित्र को समझ सकेगा, न निर्देशक की दृष्टि को। फिर वह उन्हें रूपायित क्या करेगा।

इन सामान्य गुणों के साथ ही विभिन्न प्रकार की भूमिका के लिए कुछ अन्य अपेक्षाएं होती हैं—रूपगत, गुणगत। भरत ने इनका भी विस्तृत विवेचन किया है। नायिका की भूमिका में अभिनय करने वाली अभिनेत्री सुगठित देहयष्टि वाली होनी चाहिए, उसकी वाणी कर्णप्रिय होनी चाहिए, व्यवहार में उसे स्नेहपूर्ण और मृदु होना चाहिए, सच्चरित्र और संतुलित होना चाहिए, अच्छे गुणों से समन्वित होना चाहिए और कम उम्र वाली होना चाहिए। साथ ही उसे लय-ताल-हाव-भाव की जानकार तथा अभ्यास में स्थिर भी होना चाहिए। इतना ही नहीं भरत ने निषेधात्मक निर्देश भी दिये हैं—गलत जगह पर हंसनेवाली, दिखने में कठोर, ढीली-ढाली देहयष्टि और चाल ढाल वाली, गुस्सैल, घमंडी तथा चंचल गतिवाली अभिनेत्रियों को नायिका की भूमिका नहीं देनी चाहिए। हम देखें तो पायेंगे कि अभिनय क्षमता के (जिसमें नृत्य संगीत शामिल हैं) साथ ही निरंतर अभ्यास द्वारा उसे निखारने का आग्रह है सच्चरित्रता और मृदु व्यवहार से समन्वित होने का आग्रह है ताकि रंगकर्म समाज में समादृत हो सके, अभिनेता-अभिनेत्री अपने गुणों के द्वारा प्रशंसा के साथ ही श्रद्धा भी अर्जित कर सकें।

इसी प्रकार गणिकाओं की भूमिका में अभिनय करने वाली अभिनेत्री के लिए विभिन्न कलाओं को सीखने में तत्पर, शृङ्गारिक हावभाव से परिचित, ६४ कलाओं की जानकार, राजाओं से व्यवहार करने में कुशल, मृदुभाषी, स्पष्ट उच्चारण वाली, चतुर, न थकने वाली और स्त्रियों के रोग से मुक्त होना आवश्यक कहा गया है। इन गुणों के अभाव में वह अभीप्सित प्रभाव सृष्टि न कर सकेगी। गणिका की भूमिका में अभिनय करने वाली

अभिनेत्री के लिए चरित्रवान होने की बात स्पष्ट नहीं कही गयी है, इससे यह माना जा सकता है कि गणिका के लिए अपेक्षित हाव-भाव की अभिव्यक्ति संभवत: अभिनेत्रियां न कर पाती रही हों। यद्यपि यह कभी आवश्यक नहीं कि अभिनेता या अभिनेत्री वास्तविक जीवन के अनुरूप भूमिकाओं में ही उतर रहे हों उनका ही सफल निर्वाह कर सकें तथापि यह सही है कि वास्तविक जीवन की परिस्थितियां तथा अपना व्यक्तिगत स्वभाव हमारे चरित्र एवं हाव-भाव को प्रभावित करता है, हम उन गुणों एवं स्थितियों को अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर पाते हैं जिनसे हम सुपरिचित हों।

इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण तथ्य द्रष्टव्य है। भरत ने पात्रों के चुनाव के समय उनकी पसन्द के अनुकूल भूमिकाएं देने की बात भी कही है। कहने का तात्पर्य यह कि वे जानते थे कि कलाकार जिस भूमिका में अभिनय करने का इच्छुक होगा, उसे ही वह सही रूप में मूर्त कर सकेगा, जबरदस्ती थोपी हुई भूमिका के साथ वह कभी न्याय नहीं कर पायेगा। अवश्य ही प्राथमिकता निर्देशक को मिलेगी, वह किसी कलाकार को वही भूमिका दे सकता है और देगा, जिसके लिए वह उसे उपयुक्त मानेगा तथापि उस दृष्टि से विशेष अन्तर न पड़ता हो तो उसे अभिनेता की रुचि का भी ध्यान रखना चाहिए।

एक और बात। महिलाओं को निर्देशक प्रशिक्षित तो करे किन्तु उन्हें अभिनय करना स्वयं न सिखलाये। अवश्य ही ऐसा इसलिए कहा होगा क्योंकि कितना भी हो स्त्रियों की कोमलता और सुकुमारता को पुरुष निर्देशक सहज ही मूर्त न कर सकेगा। पर हां, यदि महिलाएं पुरुष भूमिका में अभिनय कर रही हों तो वह उन्हें अवश्य अनुकूल शिक्षा दे।

पुरुष पात्रों के चुनाव के सम्बन्ध में भी विस्तृत विवेचन किया गया है। देवताओं की भूमिका में अभिनय करने के लिए सुगठित शरीरवाले, अंगभंगहीन अच्छे डीलडौल वाले, न मोटे न पतले, न लम्बे न बृहदाकार, दिखने में सुन्दर, मधुर वाणीवाले अभिनेता को चुनना चाहिए। राजा की भूमिकाके लिए सुन्दर अंगों वाले, लम्बे, दिखने में सुखदायी, गरिमामय, न मोटे न पतले, शालीन, बुद्धिमान तथा स्थिर मति वाले अभिनेता को चुनना चाहिए। विदूषक ठिंगना, बड़दन्ता, कुबड़ा गंजा तथा दोतरफी बात करनेवाला होना चाहिए। सेवक नाटा, धीरे धीरे चलनेवाला, दिखने में बदसूरत, बदमिजाज और काना होना चाहिए। उसके शरीर की बनावट भी सुगठित नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार थके हुए व्यक्ति तथा स्वस्थ व्यक्ति का अभिनय करने के लिए क्रमश: दुबले-लम्बे तथा स्वस्थ दिखनेवाले व्यक्ति का चुनाव करना चाहिए।

उपयुक्त पात्रों के चुनाव के साथ ही एक और बात भरत ने कह दी है कि यदि किसी भी भूमिका में अभिनय करने के लिए सर्वथा उपयुक्त अभिनेता न मिले तो निर्देशक निकटतम

योग्यतावाले अभिनेता को चुने और उसे सिखापढ़ाकर तैयार कर ले। एकाधिक सिर और हाथवाले, विशेष आकृतिवाले, जानवरों आदि का अभिनय करनेवालों के लिए निर्देशक मिट्टी, लकड़ी, लाह या धातु के बने मुखौटों का इस्तेमाल करें, ऐसा निर्देश भी दिया गया है।

प्रस्तुत अध्याय में पात्रों के प्रवेश, प्रस्तुतियों के प्रकार (सुकुमार और आविद्ध), पररूप धारण (इमपरसोनेशन) के तीन प्रकार (अनुरूप, विरूप, रूपानुसारिणी), स्त्रियों द्वारा गायन एवं पुरुषों द्वारा पाठ आदि की चर्चा भी की गयी है।

अभिनेता को कभी भी अपने स्वाभाविक रूप में प्रवेश नहीं करना चाहिए, अभिनीत भूमिका के लिए अपेक्षित रूप-रंग एवं चालढाल के साथ प्रवेश करना चाहिए। अभिनेता अपने शरीर को रंगकर उसे भिन्न रूप दे और यह सोच कर कि 'मैं वह हूं' (अभिनीत-चरित्र हूं), अपने आंतरिक अस्तित्व को भी भिन्न बना दे। पात्र का पररूप धारण भी तीन प्रकार का होता है। पहला "अनुरूप" अर्थात् जब पुरुष अभिनेता पुरुष तथा महिला अभिनेत्री महिला भूमिका में उतर रही हो तथा उम्र भी समान हो। दूसरा "विरूप" जब बूढ़ा जवान और जवान बूढ़े की भूमिका कर रहा हो। तीसरा "रूपानुसारिणी" अर्थात् जब पुरुष, महिला और महिला पुरुष की भूमिका में अभिनय कर रहे हों। यह भी कहा गया है कि वृद्ध या युवा व्यक्तियों को ऐसा नहीं करना चाहिए।

स्त्रियों द्वारा गायन और पुरुषों द्वारा पाठ करने का विधान किया गया है। महिलाओं का गला गायन के उपयुक्त होता है, पुरुषों का नहीं। फिर भी जहाँ अपवाद प्राप्त होते हों वहाँ पुरुषों से गायन करवाया जा सकता है। इसी प्रकार प्रस्तुतियों के दो प्रकार बतलाये हैं—सुकुमार और आविद्ध। नाटक, प्रकरण, भाण, वीथी आदि सुकुमार रूप हैं, मनुष्यों से सम्बन्धित हैं। ऐमी प्रस्तुतियां राजाओं को प्रिय होती हैं और महिलाओं द्वारा मंचित की जानी चाहिए। आविद्ध मारकाटपूर्ण ओजपूर्ण प्रस्तुति हुई अतः इसमें पुरुषों को ही भाग लेना चाहिए। डिब, समवकार, व्यायोग, ईहामृग आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यद्यपि स्वतन्त्र रूप से नाट्यशास्त्र में नाट्यदल के संगठन की चर्चा नहीं प्राप्त होती तथापि सुनियोजित कार्यविभाजन अवश्य दिखलाई पड़ता है। नाट्यकार, सूत्रधार (निर्देशक) भरत (कलाकार), विदूषक (मनोरंजन-करनेवाला), तौरिप (संगीतज्ञ, विभिन्न वाद्यों को बजाने में कुशल), नट ('नर्तक-कलाकार), मुकुटकार, आभरणकृत, रजक (कपड़े रंगनेवाला), चित्रकार, कारु तथा शिल्पकार (लाक्षा, काठ, पत्थर, धातु आदि से नाना वस्तुएं बनानेवाला), कुशीलव संगीत का जानकार, वाद्यों को बजाने में कुशल), माल्यकृत (पांच तरह की माला

वनानेवाला), वेशकार, (वेशभूशा की देखभाल करनेवाला) आदि का उल्लेख, उनके कामों का स्पष्ट विभाजन एक सुसंगठित नाट्यदल की स्थिति की ओर इंगित करता है। पारिपार्श्विक (सहायक निर्देशक) की चर्चा भी प्राप्त होती है और उसमें निर्देशक से कुछ कम गुणों की स्थिति आवश्यक मानी गयी है। रंगदीपन के लिए अलग से नियुक्त किसी व्यक्ति की चर्चा नहीं प्राप्त होती इससे लगता है उस समय इसका स्वतंत्र महत्व न था।

भरतमुनि द्वारा निरूपित सिद्धान्तों का पालन हम जाने अनजाने काफी दूर तक आज भी करते हैं। जहाँ नहीं करते, वहाँ भी समय परिस्थिति के अनुरूप थोड़ा संशोधन करके करें तो प्रस्तुति अधिक पूर्ण बनेगी, संगठन अधिक सशक्त बनेगा। ००

नाट्योत्सव १९८०

अनामिका : रजत जयन्ती वर्ष

उद्घाटन एवं रंगयात्रा की झलक	२२ दिसम्बर १९७९
अनामिका नाट्योत्सव	२६ से ३० जनवरी १९८०
नाट्यशास्त्र परिसंवाद	७ से ११ मार्च १९८०
नाट्य-फिल्म उत्सव	अगस्त १९८०
अन्तर्राष्ट्रीय रंगशिविर	१६ से २३ अक्तूबर १९८०
एशियाई व कलकत्ता रंग-प्रदर्शनियां	प्रारम्भ : २० दिसम्बर १९८०
अन्तर्राष्ट्रीय नाट्योत्सव	२१ से २८ दिसम्बर १९८०
परिसंवाद : नवें दशक में नाटक	२७-२८ दिसम्बर १९८०
समापन समारोह	३१ दिसम्बर १९८०

लेखक परिचय

● पण्डित श्री करुणापति त्रिपाठी

हिन्दी और संस्कृत के उद्भट विद्वान। वाराणसी के दो श्रेष्ठ पण्डित कुलों के उत्तराधिकारी। वाराणसी सस्कृत विश्व-विद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति।

● साहित्याचार्य श्री मधुसूदन शास्त्री

नाट्यशास्त्र एवं रसगङ्गाधर के टीकाकार। 'नाट्यशास्त्रम्' (संस्कृत, हिन्दी टीका सहित) के सम्पादक। फैकल्टी ऑफ दी ओरियंटल लर्निङ्ग, का० हि० वि० वि० के भूतपूर्व डीन। उद्भट विद्वान।

● डॉ० रघुवंश

संस्कृत एवं हिन्दी के महान् विद्वान। नाट्यशास्त्र के अध्येता एवं 'नाट्यकला' पुस्तक के रचयिता। सम्प्रति इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष।

● स्व० आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

साहित्य जगत के अप्रतिम नक्षत्र। 'नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक' पुस्तक के रचयिता। भारतीय संस्कृति और साहित्य के मार्मिक विश्लेषक एवं मूर्धन्य विद्वान। अनेकानेक उत्कृष्ट पुस्तकों के रचयिता।

● श्री गोवर्धन पांचाल

नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्यगृह-निर्माण के शिल्प-पक्ष के विशेष अध्येता। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में रङ्गशिल्प के भूतपूर्व प्राध्यापक। 'मणिपुरी नर्तन', 'कुत्तंपलम् एण्ड कुडियाट्टम', 'रास अने गर्बा, आदि पुस्तकों के रचयिता। सम्प्रति : अहमदाबाद में रङ्गसाधना।

● श्री वासुदेव स्मार्त

चित्रकला के विशेष अध्येता एवं विद्वान। अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय चित्र प्रदर्शनियों में पुरस्कृत। जे० जे० स्कूल आफ आर्टस, बम्बई के जी० डी० ए० एवं फेलो। नाट्यशास्त्र में वर्णित रङ्गमण्डप के विशेष अध्येता। सम्प्रति : काशी हिन्दू विश्वविद्यायल में ललित कला के प्राचार्य।

● डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी

संस्कृत साहित्य की भारतीय और विदेशीय शिक्षा पद्धति के स्नातक। संस्कृत में काव्य, नाटक तथा शास्त्रीय ३० ग्रन्थों के लेखक, सम्पादक, भाष्यकार तथा विचारक। सम्प्रति, अध्यक्ष—साहित्य विभाग, फैकल्टी आफ ओरियण्टल लर्निंग एण्ड थियोलोजी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

● डॉ० ठाकुर जयदेवसिंह

दर्शन और संगीत शास्त्र के अप्रतिम विद्वान। भारतीय संगीत का इतिहास लिखने में संलग्न। कबीर के दर्शन का विशेष अध्ययन। आकाशवाणी के भूतपूर्व केन्द्रीय संगीत सलाहकार। भूतपूर्व अध्यक्ष, उ० प्र० संगीत नाटक अकादमी। 'पद्मभूषण' से विभूषित।

● डॉ० सुधा रस्तोगी

नाट्यशास्त्र अध्येता। रङ्गसाधना में विशेष रुचि एवं आंगिक अभिनय की व्याख्याता।

● डॉ० प्रेमलता शर्मा

हिन्दी व संस्कृत में एम. ए., साहित्याचार्य एवं संस्कृत में पी. एच. डी.। संगीतशास्त्र पर अनेक पुस्तकों की रचयिता, पचास से अधिक शोध निबन्धों की प्रस्तुतकर्त्री। 'संगीतालंकार' की उपाधि एवं उ० प्र० संगीत नाटक अकादमी की रत्न सदस्यता से विभूषित। संस्कृत में काव्य, ध्रुपद गीतों की रचयिता, नाट्यशास्त्र के पूर्व रसविधान, भरतोक्त ध्रुवाओं के प्रयोग पर शोधकार्य। संस्कृत नाटकों की निर्देशिका। सम्प्रति, अध्यक्षा—ललित कला संकाय, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय।

● डॉ० भानुशंकर मेहता

प्रबुद्ध रंगकर्मी। निबंध, कहानी, लोकप्रिय विज्ञान, स्वास्थ्य शिक्षा, हास्य-व्यंग्य लेख और कविता, नाटक, संस्मरणों के लेखक। 'रामलीला' और 'बनारस' पर विशेष कार्य। चिकित्सा इतिहास का विशेष अध्ययन। पेशे से पैथोलाजिस्ट डाक्टर। नाट्यशास्त्र के अध्येता। प्रस्तुत विशेषांक के सम्पादक।

● श्री विमल लाठ

कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम० काम व विधि स्नातक। नाट्य साहित्य के जिज्ञासु विद्यार्थी एवं प्रयोगधर्मी अभिनेता-निर्देशक-संगठक। 'नाट्यवार्ता' के सम्पादक।

● डॉ० इन्दुजा अवस्थी

साहित्य में डाक्टरेट। नाट्यशास्त्र अध्येता एवं जिज्ञासु रंगकर्मी। सम्प्रति, मिराण्डा हाउस, दिल्ली में प्राध्यापिका।

● पं० विष्णुकान्त शास्त्री

साहित्य सर्जक एवं समालोचक। कई पुस्तकों के नचयिता। रंगकार्य में विशेष रुचि। सम्प्रति, अध्यक्ष—हिन्दी विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय; सदस्य—विधान सभा, प० बंगाल।

● श्रीमती रविप्रभा बर्मन

संगीत की मर्मज्ञ। लोकरूढ़ियों व परम्पराओं की जिज्ञासु विद्यार्थी। कलकत्ता की अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं से सम्बद्ध।

● डॉ० अमलशिव पाठक

रंगसाधना में सन्नद्ध। नाट्यरूढ़ियों व परम्पराओं का विशेष अध्ययन। लोक-शैलियों का व्यावहारिक अनुभव। सम्प्रति, वाराणसी बैंक में कार्य और रंगसाधना।

● डॉ० प्रतिमा अग्रवाल

हिन्दी मुहावरों पर डाक्टरेट। रंगसाधना में बाल्यकाल से सन्नद्ध। अनेक नाट्यानुवाद, रूपान्तर पुस्तकें प्रकाशित। प्रभावी अभिनेत्री-निर्देशिका।